श्रद्धा-प्रसून

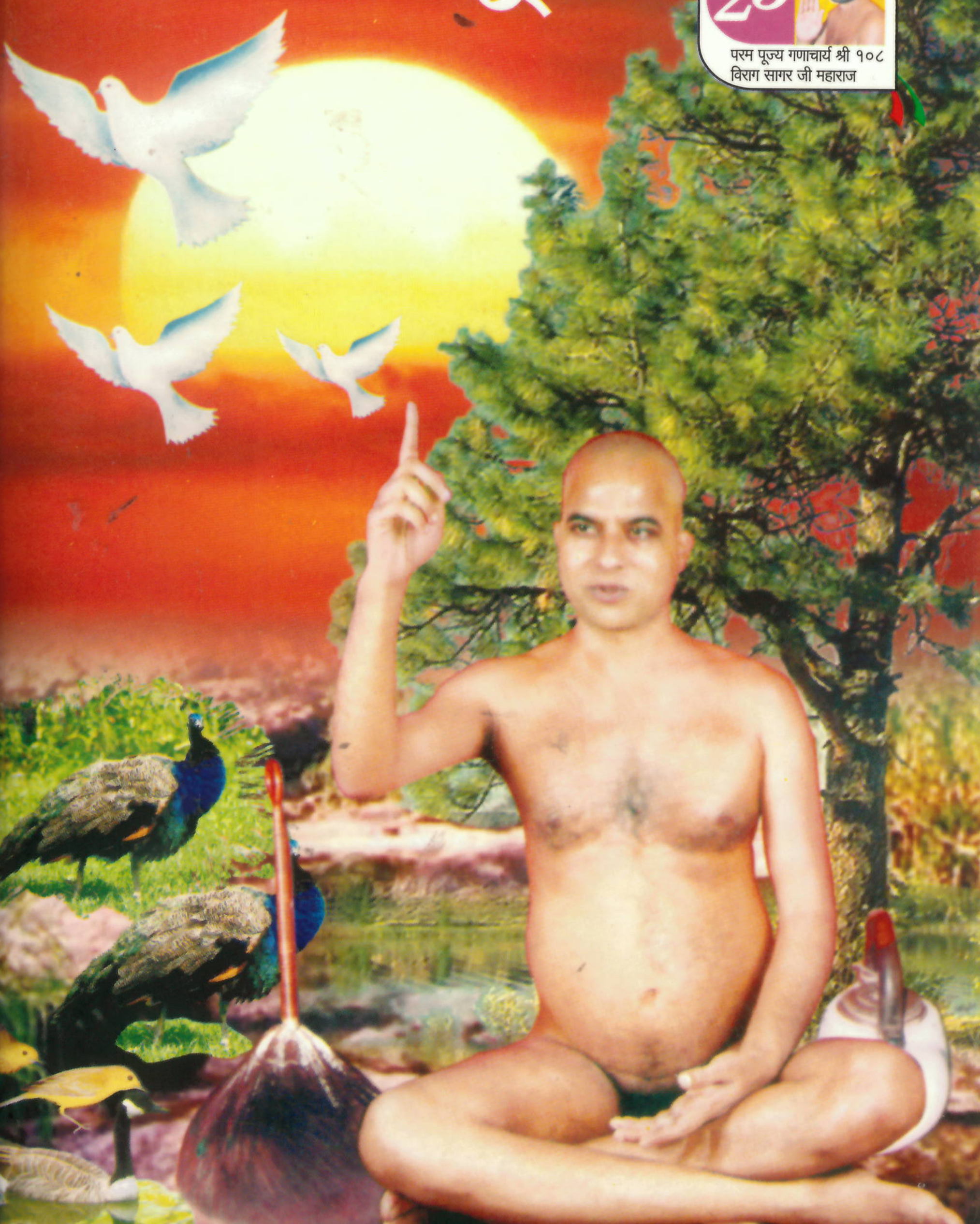

प्रवचन-परम पूज्य गणाचार्य श्री १०८ विराग सागर जी महाराज

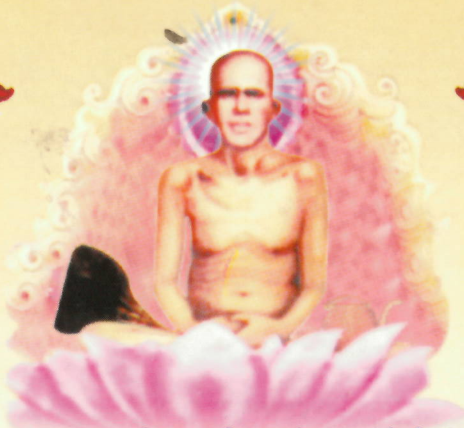

परम पूज्य आ. श्री १०८ आदि सागर जी महाराज (अंकलीकर)

परम पूज्य आ. श्री १०८ महावीरकीर्ति जी महाराज

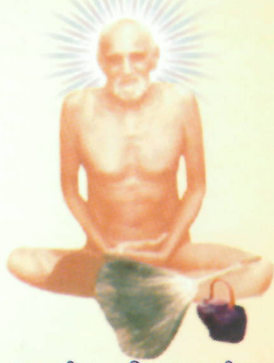

परम पूज्य आ. श्री १०८ विमल सागर जी महाराज

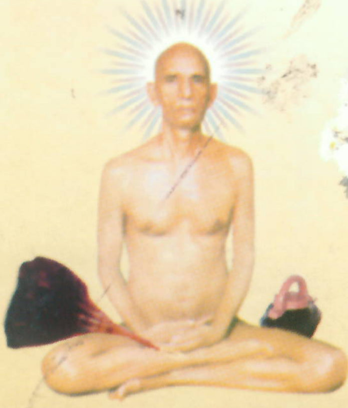

परम पूज्य आ. श्री १०८ सन्मति सागर जी महाराज

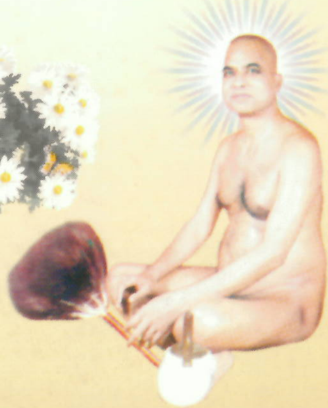

परम पूज्य गणाचार्य श्री १०८ विराग सागर जी महाराज

श्रद्धा प्रसून

*

प्रसंग : वात्सल्य रत्नाकर, सिद्धान्त रत्न परमपूज्य गणाचार्य श्री १०८ विराग सागर जी महाराज के "राष्ट्रीय मुनि दीक्षा महोत्सव" के सुअवसर पर

*

पुष्प : उन्नीसवाँ

*

कृति : श्रद्धा प्रसून

*

प्रवचन : परमपूज्य गणाचार्य श्री १०८ विराग सागर जी महाराज

*

प्रेरण : पूज्यनीय आर्यिका श्री १०५ विशिष्ट श्री माता जी

*

संकलन : पूज्यनीय आर्यिका श्री १०५ विश्वास श्री माता जी

*

संपादन : पूज्यनीय आर्यिका श्री १०५ विदक्षा श्री माता जी

*

संस्करण : प्रथम, २००० प्रतियाँ सन् २००७ कुंजवन-उदगाँव (महाराष्ट्र)

*

पुन:प्रकाशन राशि : २५ रुपये

*

प्रकाशक : श्री सम्यग्ज्ञान दिगंबर जैन विराग विद्यापीठ, भिण्ड (म.प्र.)

*

पुण्यार्जक : श्री महावीर प्रसाद गंगवाल पाँडीचेरी
श्रीमति शरबती देवी गंगवाल
श्री विमल कुमार कमल कुमार जी पाटनी सेलम
श्रीमति चंद्रकांता देवी पाटनी

अनुक्रमणिका

१. आशीर्वाद ०४

२. २१ वीं सदी के ज्योति पुञ्ज : आचार्य विराग सागर जी ०७

३. संपादकीय १३

४. आस्था की अनुगूंज १९

५. निःशंकितता है प्रथम चरण २१

६. निःकांक्षित भक्ति फलदायी ३५

७. निर्विचिकित्सा अंग से करो आत्म चिकित्सा ४७

८. अमूढ़ दृष्टि बनकर करो मूढ़ता का परिहार ६१

९. निज गुण अरु पर औगुण ढाके-उपगूहन अंग ७९

१०. स्थितीकरण अंग से प्राप्त करो निज व पर आत्मस्थिरता ९१

११. गौ वच्छ सम प्रीति करता वात्सल्य अंग १०५

१२. आत्म प्रभावना ही सम्यक धर्म प्रभावना है । ११७

आशीर्वाद

बीजांकुर न्याय के समान श्रुत ज्ञान की परंपरा और आचार्य परंपरा एक दूसरे के पूरक हैं । आचरंति यस्माद् व्रता-नीत्याचार्य: ।।३।। यस्माद सम्यग्ज्ञानादि गुणाधारा हृदय व्रतानि स्वर्गापवर्ग सुखामृत बीजानि भव्या हितार्थ माचरति स आचार्य । (त.बा.९/२०) जिनसे व्रतों को धारण कर आचरण किया जाता है वे आचार्य हैं । जिन सम्यग्दर्शन ज्ञान आदि गुणों के आधार-भूत महापुरुषों से भव्य जीव स्वर्ग मोक्ष रूप अमृत बीजभूत व्रतों को ग्रहण कर अपने हित के लिए आचरण करते हैं, व्रतों का पालन करते हैं व जो दीक्षा देते हैं वे आचार्य कहलाते हैं ।

श्रुतज्ञान की परंपरा को भविष्य के लिए वृद्धिंगत करने में मनीषियों, महापुरुषों, आचार्यों तथा अन्यों का बेजोड़ योगदान हर प्रकार के ज्ञान के द्वारा सत्साहित्य का प्रतिपादन होता रहा है ।

यह भारत भूमि पूर्व की भांति साधु संतों के अवतरण, निष्क्रमण, आचरण एवं साधना से पवित्र पावन पुनीत होती रही है तथा भूत, भविष्य एवं वर्तमान काल में अनेक भव्य जीव अपनी आत्मा का उद्धार कर रहे हैं । उन्ही में से मुनिकुंजर समाधि सम्राट, अप्रतिम उपसर्ग विजेता, आदर्श तपस्वी, महामुनि दक्षिण भारत में वयोवृद्ध दिगम्बर संत, आचार्य परमेष्ठी श्री १०८ आदि सागर जी महाराज (अंकलीकर) के पट्टाधीश आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज के शिष्य वात्सल्य रत्नाकर आचार्य विमल सागर जी महाराज इन महापुरूष के उद्धार की प्रणाली आगमोक्त रही है । इन्होंने स्वात्महित के साथ परहित भी किया है तथा अपनी तपोपूत आत्मा से भव्य आत्माओं को हितोपदेश दिया है वह उपदेश ग्रंथ रुप में लिपिबद्ध है ।

आचार्य आदिसागर जी अंकलीकर ने भाद्रपद शुक्ला ४ वि.सं. १९२३ सन् १८६६ को महाराष्ट्र के अंकली ग्राम में जन्म लिया । मगशिर शुक्ला २ वि.स. १९७० सन् १९१३ को सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरी पर दीक्षा ली । ज्येष्ठ शुक्ला ५ वि.सं. १९७२ सन् १९१५ को जयसिंगपुर में आचार्य पद को ग्रहण किया । फाल्गुन कृष्णा १३ वि.सं. २००० सन् १९४४ को उदगांव-कुंजवन में समाधि मरण किया । उन्होंने अपने दीक्षा काल में प्रायश्चित्त विधान (प्राकृत) को भाद्रपद शुक्ला ५ वि.सं. १९७२, सन् १९१५, जिनधर्म रहस्य (संस्कृत) को मगशिर शुक्ला २ वि.सं. १९९. सन् १९४२, दिव्य देशना

(कन्नड़) को मगशिर शुक्ला ११ वि.सं. १९९९ सन् १९४१, शिवपथ (संस्कृत) को भाद्रपद शुक्ला ४ वि.सं. २००० सन् १९४३, वचनामृत (मराठी) को माघ शुक्ला १४ वि.सं. २००० सन् १९४३, उद्‌बोधन (कन्नड़) को फागुन शुक्ला ११ वि.सं. २०००, सन् १९४३, अंतिम दिव्य देशना (कन्नड़) को फागुन कृष्णा १३ वि.सं. २००१ सन् १९४४ में पूर्ण किया ।

आचार्य श्री के पट्टाधीश आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी ने वैशाख कृष्णा ९ वि.सं. १९६७ सन् १९१० को फिरोजाबाद में जन्म लिया । फागुन शुक्ला ११ वि.सं. २००० सन् १९४३ को उदगांव में दीक्षा ग्रहण की । आश्विन शुक्ला १० वि.सं. २००० सन् १९४३ को आचार्य पद ग्रहण किया । माघ कृष्णा ६ वि.सं. २०२८ सन् १९७२ को महसाना में समाधि प्राप्त की । आचार्य श्री ने परंपरागत ज्ञान से अपने दीक्षा काल में प्रायश्चित विधान (संस्कृत) को फागुन शुक्ला १३ वि.सं. २००९ सन् १९५२, वचनामृत (अंग्रेजी) वर्ड्स ऑफ नेक्टर (Words of nector) को मार्गशीर्ष कृष्णा १० वि.सं. २००० सन् १९४३, धर्मानंद श्रावकाचार (हिंदी) को चैत्र शुक्ला १३ वि.सं. २००० सन् १९४३, प्रबोधाष्टक (संस्कृत स्वोपज्ञ टीका सहित) को फाल्गुन शुक्ला ११ वि.सं. २००४ सन् १९४७, शिवपथ टीका को मगशिर कृष्णा १० वि.सं. २००४ सन् १९४७, जिनधर्म रहस्य (हिंदी टीका) को फागुन शुक्ला १३ वि.सं. २०१० सन् १९५४, चतुर्विंशति स्तोत्र (संस्कृत)को मगशिर शुक्ला ११ वि.सं. २०१८ सन् १९६१ में पूर्णता की।

आचार्य विमलसागर जी ने आश्विनी कृष्णा ७ वि.सं. १९७२ सन् १९१५ कोसमा में जन्म लिया । फागुन शुक्ला १३ वि.सं. २००९ सन् १९५२ को सोनागिर में दीक्षा ग्रहण की । मगशिर कृष्णा २ वि.सं. २०१८ सन् १९६० को टूंडला मे आचार्य पद प्राप्त किया । पौष कृष्णा १२ वि.सं. २०५१ सन् १९९४ को सम्मेद शिखर में समाधि मरण किया । अपने दीक्षा काल में परंपरागत ज्ञान को जिनवाणी का वैभव (हिंदी) को कार्तिक शुक्ला १५ वि.सं. २००८ सन् १९५१, हे आचार्य आदिसागर अंकलीकर (हिंदी) कार्तिक कृष्णा १०, वि.सं. २०३९ सन् १९८२, संदेश (हिंदी) को आश्विनी शुक्ला ९ (२३अक्टूबर) को वि.सं. २०५० सन् १९९३ को प्रतिपादन कर पूर्ण किया ।

संदेश-हमारी आचार्य परंपरा में प्रथम मुनि कुंजर आचार्य आदि सागर जी

अंकलीकर हैं । आप आचार्य महावीर कीर्ति जी के दीक्षा गुरु हैं । आचार्य आदि सागर जी अंकलीकर ने अपना आचार्य पद भी महावीर कीर्ति जी को दिया हैं।

जैन समाज में आचार्य आदि सागर जी अंकलीकर की परंपरा और आचार्य शांति सागर जी दक्षिण की परंपरा इस युग में निर्बाध चली आ रही है । समाज का कर्तव्य है कि किसी प्रकार का विवाद न करके दोनों आचार्य परंपरा को आगम सम्मत मानकर वात्सल्य से धर्म प्रभावना करें ।

इसी श्रृंखला में आर्यिका विशिष्ट श्री माता जी हैं जिनकी प्रेरणा से 'श्रद्धा प्रसून' नाम की कृति प्रकाशित की जा रही है । इस कृति मे वात्सल्य रत्नाकर गणाचार्य विराग सागर जी का प्रवचन है । इसका संकलन आर्यिका विश्वास श्री माता जी तथा संपादन आर्यिका विदक्षा श्री माता जी ने किया है । गणाचार्य विराग सागर जी के प्रवचन की भाषा शैली सरल सरस है जो प्रत्येक स्वाध्याय कर्ता की समझ में आ सकती है तथा इसमें प्रवृत्त होकर मोक्षमार्ग में सुगमता से प्रवाहित हो सकते हैं । यह सबकुछ उन्होंने आचार्य आदि सागर अंकलीकर से, आचार्य महावीर कीर्ति जी से, आचार्य विमल सागर जी से सीखा है । जिसका प्रकाशन उन्हीं के ''राष्ट्रीय रजत मुनि दीक्षा महोत्सव'' के उपलक्ष्य में प्रकाशित किया जा रहा है । इसका पठन-पाठन मनन चिंतन भव्यात्मायें करके मोक्षमार्गी बनेगी ।

आसौज, २००७ **- आचार्य सन्मतिसागर**

* * *

तपस्वी सम्राट परम पूज्य आचार्य श्री १०८ सन्मति सागर जी महाराज

जन्म	:	माघ शुक्ला ७ वि.सं. १९९५ सन् १९३८ फफोतू
क्षु. दीक्षा	:	श्रावण शुक्ला ८ वि.सं. २०१८, सन् १९६१ मेरठ
मुनि दीक्षा	:	कार्तिक शुक्ला १२ फि,हं, २०१९ सन् १९६२ सम्मेद शिखर
आचार्य पद	:	माघवदी ३ वि.सं. २०२९, ३ जनवरी १९७२ मेहसाना

२१वीं सदी के ज्योति पुन्ज : आचार्य विराग सागर जी

डॉ. के. एल. जैन, प्राचार्य

शासकीय कन्या महाविद्यालय, टीकमगढ़ (म.प्र.)

अपरिमित प्रज्ञा के धनी :

'संत' वह है जिसकी सरलता का कोई अंत न हो, जो संसार से विरक्त होकर स्व-पर कल्याण की भावना में निरत हो, जिसके अन्तःकरण में वात्सल्य और स्नेह का निर्झर सतत् प्रवाहमान हो । जिसकी वाणी से जन-जन की कल्याण कामना के भाव निसृत हो, जिन्होंने 'ज्ञान' की अतुल गहराईयों में उतरकर 'सृजन' के मौलिक स्वरूप को गढ़ा हो। ऐसे अनेक विशेषणों से विभूषित 'प्रज्ञा' के धनी आचार्य विराग सागर जी का इस धरित्री पर अवतरण इस सदी की एक अन्यतम घटना ही मानी जायेगी ।

असाधारण व्यक्तित्व के धारक :

एक ऐसा व्यक्तित्व जिसमें जादुई तिलस्म का आकर्षण हो, यह आकर्षण है उनके त्याग का, साधना का, तप का, चर्या का और उस असाधारण ज्ञान का जिसके कारण श्रावक दीवानगी की हदों को भी पार कर जाता है । आपकी सौम्य मुद्रा के दर्शन मात्र से ही दर्शनार्थियों के कालुष्य का विरेचन हो जाता है । आपके सानिध्य का सुफल और आशीष का हस्तकमल जीवन को निर्जर और निरामद बना देता है । यही वजह है कि आचार्य विराग सागर जी जहाँ से निकल पड़ते हैं वहाँ के लोग उनके हमेशा-हमेशा के लिए बन जाते हैं ।

अनोखे बचपन का विरल सम्मोहन :

दमोह (म.प्र.) जिले के पथरिया ग्राम में पाषाणों के बीच इस हीरे का अवतरण २ मई १९६३ (वैशाख शुक्ल ९ वि.सं. २०२०) को रात्रि ९ बजे हुआ । पुण्यात्मा श्रीमान् सेठ कपूरचंद जी एवं जननी श्रीमती श्यामादेवी (वर्तमान में आपसे ही दीक्षित पूज्य क्षुल्लिका श्री विशान्त श्री माताजी) की कोख से एक ऐसा कमल (अरविन्द) खिला जिसने अपनी अनुपम सुगन्धी से सारे बुन्देलखण्ड को महका दिया । कभी-कभी आगत की आश्चर्य चकित करने वाली घटनाएँ वर्तमान में ही अपना संकेत देने लगती है । कुछ ऐसा ही हुआ बालक अरविन्द के साथ जब वे बचपन में नग्न अवस्था में खड़े होकर हाथ में झाड़ू लेकर (पिच्छी का प्रतीक) माँ से बोले-मुनिराज का पड़गाहन करो । क्योंकि कुछ दिन पूर्व उन्होंने इस तरह के दृश्य को देखा था । उक्त दृश्य का आत्म पटल पर अंकन आज आचार्य विराग सागर जी के रूप में परिलक्षित हो रहा है । यह इस धरित्री का पुण्य उदय ही माना जाएगा।

बालक अरविन्द की बाल्य अवस्था की क्रियाएँ सम्मोहन की सीमाएँ लाँघने में समर्थ थीं, सेवा कार्य के हद दर्जे की दीवानगी उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी । इसी भावना के कारण बालक अरविन्द सभी को सम्मोहित कर लेते थे । संवेदनशीलता की

भावना ने उन्हें प्राणी मात्र की कल्याण कामना से आपूरित कर दिया था । यही कारण है कि मुनि विराग सागर जी अहर्निश साधना की असीम ऊँचाईयों की ओर अत्यन्त तीव्रता के साथ अग्रसर हो रहे हैं ।

अर्जन और सर्जना के विविध सोपान :

बालक अरविन्द की प्रारंभिक शिक्षा पथरिया और इसके उपरांत श्री शांति निकेतन दिगम्बर जैन संस्कृत विद्यालय कटनी में हुई । निष्णात गुरु पं. जगन्मोहनलालजी के सानिध्य ने 'प्रज्ञा' के अन्तर्ज्योति को जागृत कर दिया । ज्ञानाराधन की ललक और वैराग्य भावना की व्यग्रता ने मनोयोग पूर्वक अर्जन की प्रवृत्ति को परवान चढ़ने का काम किया, परिणाण स्वरूप १६-१७ वर्ष की अवस्था में २० फरवरी १९८० फाल्गुन शुक्ल ५ वि.सं. २०३६ बुढ़ार जिला शहडोल (म.प्र.) में परम पूज्य तपस्वी सम्राट आचार्य श्री सन्मति सागर जी से आपने क्षुल्लक दीक्षा ली तब आपका नाम पू.क्षु. पूर्ण सागर जी रखा गया, २०-२१ वर्ष की अल्पायु में ९ दिसंबर १९८३ मगशिर शुक्ल ५ वि.सं. २०४० को औरंगाबाद (महाराष्ट्र) में वात्सल्य रत्नाकर परम पूज्य आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज से मुनि दीक्षा ग्रहण की, तब आपका नाम मुनि विराग सागर जी रखा गया । दीक्षा ने शिक्षा के विकासक्रम को गंगा की धारा के समान प्रवाहमान रखने में एक ऊर्जयन्त-ऊर्जा से संचरित रखा, जिससे अल्प समय में आप न्याय, व्याकरण, दर्शन, साहित्य व अध्यात्म के महान चितेरे बन गए ।

महाव्रती की महती प्रभावना :

आज का वातावरण विसंगतियों और विद्रूपताओं की कालिमा से कलंकित है। ऐसे वातावरण में मनुष्य का नैतिक विकास हो पाना काफी दुष्कर जान पड़ता है । सर्वत्र हिंसा, अनैतिकता, बेईमानी और झूठ का बोलबाला है, स्वार्थ की संकीर्णताओं ने व्यक्ति को संवेदन शून्य और हृदयहीन बना दिया है, प्रेम और भाई चारे के सद्व्यवहार की अपेक्षाएँ दिनोंदिन क्षीण होती जा रही है- ऐसे वातावरण में महाव्रती का संदेश जीवन में ऐसी ऊर्जा का संचार करता है जिससे कि जीवन की धारा ही बदल जाती है । आचार्य विराग सागर जी ने भ्रमित युवा पीढ़ी को आचरण और नैतिक मूल्यों की दृष्टि से जो दिशा-दृष्टि प्रदान की है वह इस सदी की श्रेष्ठतम घटनाओं में इतिहास के पन्नों पर स्वर्णाक्षरित की जायेगी ।

कुशल संघ संचालक :

मोक्ष के आकांक्षी, वीतरागी पथ के पथिक, पदों से अलिप्त मुनि विराग सागर जी महाराज की उत्तरोत्तर साधना, अनुशासन एवं आगमिक प्रणाली से प्रभावित होकर अनेक आत्म हितैषी उनके साथ आत्म-साधना करने के लिए तत्पर हो गये, साथ ही लगभग १० आचार्य परमेष्ठी उनके मनोज्ञ व्यक्तित्व को देखकर उन्हें अपना आचार्य पद देकर संघ का भार सौंपना चाहते थे तथा कितने ही बार तो अनेक आचार्यों ने उनके आचार्य पद

की घोषणाएँ की लेकिन मुनि विराग सागर जी ने 'मैं अभी इस योग्य नहीं हूँ, या मेरे गुरु अभी विराजमान हैं' ऐसा कहकर उसे स्वीकार नहीं किया फिर भी समय बड़ा बलवान होता है और ऐसा योग आया कि परम पूज्य आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज की आज्ञा एवं आशीर्वाद तथा आचार्य विद्या सागर जी महाराज एवं आचार्य सुमति सागर जी आदि अनेक आचार्यों के आशीर्वाद से आचार्यत्व के गुणों से परिपूर्ण होने के कारण चतुर्विध संघ, द्रोणगिरि की समाज, पं. दरबारीलालजी कोठिया (बीना) आदि अनेक विद्वानों एवं श्रेष्ठियों ने द्रोणागिरि सिद्धक्षेत्र पर ८-११-१९९२ (कार्तिक शुक्ल १३, वि.सं.२०४९ को) उन्हें आचार्य पद से विभूषित कर अपने भाग्य को सजाया था । इस प्रकार साधना-पथ पर उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर आचार्य विराग सागर जी ने अपने ज्ञान, ऊर्जा और साधना के द्वारा आत्म कल्याण और लोक कल्याण के जिन शीर्ष प्रतिमानों को स्थापित किया वह असाधारण ही माना जायेगा ।

संयमी सृजक गुरूदेव :

पूज्य गुरूओं के प्रति विनय भाव तथा शिष्यों के प्रति वात्सल्य एवं करूणा भाव तथा समाज के सही मार्गदर्शक एवं देव-शास्त्र-गुरु के प्रति परमागाढ़ श्रद्धा को देख अनेक भक्तों ने आपको अपना गुरु चयन कर आपका शिष्यत्व धारण कर अपने जीवन को मोक्षमार्ग के प्रति समर्पित किया व आपके साथ चलने को तैयार हो गये, आपने संयम काल के २८ वर्षों में भारत के १० प्रांतो में लगभग ३०,०००कि.मी. की पैदल यात्रा कर अनेकों सिद्धक्षेत्रों, अतिशय क्षेत्रों एवं नगरों में अध्यात्मिक साधना कर अनेक भव्यों को दीक्षाऐं दी हैं जिसमें अतिशय क्षेत्र बरासों (भिण्ड) की १३ मुनि दीक्षाएँ, ललितपुर की २१ दीक्षाऐं तथा श्रवणबेलगोला की २५ दीक्षाओं ने जन-मानस पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है और जिससे जैन-जैनेत्तरों में महती प्रभावना हुई । यही कारण है कि आप एक विशाल एवं श्रेष्ठ वटवृक्ष की तरह हैं, जिसकी छत्र छाया में-७ आचार्य, ३९ मुनि, ४० आर्यिका, ६ ऐलक, १९ क्षुल्लक, ६ क्षुल्लिकाएँ एवं अभी आपके निर्देशन में लगभग १५० से भी अधिक ऐसे भी विनेय साधक हैं जो अंतेवासिन के रूप में अपनी साधना में संलग्न हैं तथा आपके कुशल निर्यापकाचार्य में अनेक साधुओं एवं साध्वियों ने समाधि कर अपने जीवन को सार्थक किया है ।

अनुपम अनुशासन एवं चारित्र साधक :

चारित्र संवर्धक अनुशासन के पथानुगामी गुरुदेव आप मात्र शिष्यों को दीक्षा ही नहीं देते किंतु उन्हें शिक्षा दे अनुशासन में भी रहना सिखाते हैं । जो शिष्य अनुशासनवान् होते हैं उन्हें सतत् संस्कारित कर ऊँचा उठाते हैं । अपने शिष्यों में अध्यात्मिक संत युवा मुनि श्री विशुद्ध सागर जी, नव चेतना के दूत मुनि श्री विभव सागर जी, ज्ञान मनीषी मुनि श्री विमर्ष सागर जी, मुनि श्री विनिश्चय सागर जी, मुनि श्री विहर्ष सागर जी तथा प्रवचन पटु

मुनि श्री विमद सागर जी आदि को तो आपने लगभग दो वर्ष पूर्व (२००५ कुंथुगिरी) से ही आचार्य पद की घोषणाऐं कर दी थी किंतु धन्य है ऐसे शिष्यों को कि जिन्होंने पद की होड़ नहीं की । अपितु उक्त महाराजों में से अभी ३ मुनिराजों को गुरुदेव ने ही अपने हाथों से उन्हें आचार्य पद के योग्य शिक्षा एवं प्रायश्चित ग्रंथ पढ़ाने के पश्चात् औरंगाबाद में ३१ मार्च २००७ को आचार्य पद से विभूषित कर अपने हृदय की उदारता का साकार दर्शन दिया ।

अनुशासक वही हो सकता है जो प्रथम स्वयं ही अनुशासन के सांचे में ढला हो, वे अनुशासन में मात्र ढले ही नहीं, किंतु समग्र शिष्यों को भी अनुशासन में ढाला है यद्यपि अनुशासन विहीन ईर्षालु कुछ व्यक्तियों ने समय-समय पर आप पर छींटा कशी भी की, किंतु आप जरा भी विचलित नहीं हुए । सूर्य की भाँति प्रकाशमान ही होते रहे हैं तथा आपने अनुशासन में किंचित् भी ढील नहीं दी और न किसी परिस्थिती के सन्मुख घुटने टेके हैं । यही देख स्वस्ति श्री भट्टारक चारूकीर्ति जी श्रवणबेलगोला के मुख से शब्द प्रस्फुटित हुए कि आचार्य विराग सागर जी एवं उनका संघ चलती फिरती यूनिवर्सिटी है।

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी :

वैराग्य को दृढ़ करने एवं संयम साधना को निर्दोष बनाने तथा आगमानुकूल चर्या बनाने के लिए, समय का सदुपयोग, धर्म ध्यान की वृद्धि एवं केवलज्ञान की उत्पत्ति में कारणभूत अहर्निश आचार्य प्रणीत शास्त्रों के स्वाध्याय में आप निमग्न रहते हैं तथा अपने साधु समूह को भी निरंतर स्वाध्याय के महत्व को बताकर उन्हें अध्ययन के लिये प्रोत्साहित एवं प्रेरित करते रहते हैं, यही कारण है कि आपने षट्खण्डागम श्री धवला जी की ५ वर्षों में १६ वाचनायें बुंदेलखण्ड में मूर्धन्य विद्वानों की उपस्थिति में निर्विघ्न पूर्ण कीं, साथ में अनेक स्थानों में सम्यग्ज्ञान शिक्षण शिविर व विद्वत गोष्ठी का आयोजन किया तथा आपने अपने शिष्यों को अष्टसहस्त्री, त्रिलोकसार, तिलोयपण्णति, गोम्मटसार, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, मूलाचार, आचारसार जैसे महान ग्रंथो का अध्ययन कराया, जिससे स्पष्ट है कि आप चारों अनुयोगों के प्रकाण्ड विद्वान हैं ।

श्रुतसेवा :

ज्ञान के प्रति अभिरूचि होने से आप निरंतर श्रुत सेवा में तल्लीन रहते हैं और आगम के चिंतन एवं मनन के द्वारा तत्व की गहराई में उतरकर उसके गूढ़ से गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन कर आगम की पुष्टि करते हुए लोगों की भ्रांति को दूरकर उनके सम्यग्दर्शन को निर्मल करते हैं । इस प्रकार आपने आगम के आधार से अपने साधना काल में अनेक कृतियाँ- सम्यग्दर्शन, व्यसन विचार, जिनेन्द्र दर्शन पूजन, शुद्धोपयोग, तीर्थंकर दिव्य दर्शन, सल्लेखना से समाधि, आगम चक्खू साहू, परम दिगम्बर जैन मुनि, सर्वोदयी दिगम्बर जैन धर्म आदि हैं । जिसमें शुद्धोपयोग कृति, जिस पर लगभग १५० विद्वानों ने समीक्षा कर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है क्योंकि यह कृति अनेक मिथ्या विकल्पों का निसर्ग करती

है। इस तरह सर्जना के क्षेत्र में लगभग ५० पुस्तकों के द्वारा सरस्वती के भण्डार को भरने का आपने जो भागीरथ कार्य किया है वह अनुपम है इनमें भारतीय साहित्य, धर्म, दर्शन, ज्ञान और चारित्र के ऐसे बहुविध रूप देखने को मिलते हैं जिन्हें देखकर आचार्य श्री की बहुमुखी प्रतिभा का सहज ही आकलन किया जा सकता है ।

आपकी सत्प्रेरणा से ''श्री सम्यग्ज्ञान दिग. जैन विराग विद्यापीठ, भिण्ड'' अनेकों धार्मिक एवं लौकिक (शिशु, प्राईमरी, मिडिल एवं हाई स्कूलीय) शिक्षायें प्रदान कर रही है । इसी प्रकार पन्ना में श्री सम्यग्ज्ञान दिग. जैन स्कूल ब्रजपुर में श्री सम्यग्ज्ञान दिग. जैन विद्यालय भी अपनी मिडिल तक की शिक्षा प्रदान कर रहे हैं । बीना में आचार्य विराग सागर बी.एड. कॉलेज ने अल्प समय में बहुत बड़ी सफलता हासिल की है ।

धर्म प्रचार-प्रसार के क्षेत्र में ''विराग वाणी मासिक'' पत्रिका निरन्तर हर स्तर के आलेखों से भरपूर रहती हुई जन मानस को आकर्षित करती है ।

प्रतिभा सम्पन्न गणाचार्य :

१६-१७ अगस्त २००३ जब उपसर्ग के बादल आप पर मंडराये, तब आपकी एक आसन से ३६ घंटे की लगातार साधना, अथाह समता, मेरुवत् संकल्प शक्ति से प्रभावित होकर छत्तीसगढ़ (दुर्ग, वैशाली आदि अनेक स्थानों) की समाज ने आपको ''उपसर्ग विजेता'' की उपाधि से अलंकृत कर अपने जीवन को कृतार्थ किया । २००४ के चातुर्मास काल में आपकी निर्मल साधना से प्रभावित होकर कारंजा समाज ने आपको ''चारित्र शिरोमणि'' की उपाधि से सम्मानित कर अपने आपको गौरवान्वित किया था ।

आपने अपनी कुशलता के द्वारा अल्पायु में ११७ पथिकों को मोक्ष की राह दिखाकर उनका मोक्षमार्ग प्रशस्त किया है इसलिये परम पूज्य गणधराचार्य कुंथुसागर जी महाराज ने २००५ में १५ आचार्यों एवं २०० साधुओं की उपस्थिति में जनसमूह के समक्ष आपको ''श्रमण रत्नाकर'' की उपाधि से सुशोभित किया था । आपने जो धवला ग्रंथ की १६ पुस्तकों की वाचना लगभग १५० विद्वानों की उपस्थिति में ५ वर्षों में पूर्ण की है इससे प्रभावित होकर २००५ में मूडबिद्री के भट्टारक श्री चारुकीर्ति जी एवं वहाँ की समाज ने आपको ''सिद्धांतरत्न'' की उपाधि प्रदान कर अपना अहोभाग्य समझा था। आपने अपने संयम जीवन में अनेक अध्यात्मिक ग्रंथों का रसास्वादन किया है, कराया है इसलिये आप उपसर्गों से गुजरकर भी काँटों में गुलाब की तरह विकसित हुए अत: आपकी अध्यात्म साधना से प्रभावित होकर धर्माधिकारी डॉ. वीरेन्द्र कुमार हेगड़े जी ने २००५ धर्मस्थल में ''अध्यात्म योगी '' की उपाधि से विभूषित कर अपना गौरव बढ़ाया है । २००६ मेलचित्तामूर में स्वस्ति श्री लक्ष्मीसेन भट्टारक जी ने ''समता मूर्ति'' की उपाधि से, २००७ औरंगाबाद में त्रय आचार्य पद प्रतिष्ठा के अवसर परम पूज्य आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज, परम पूज्य आचार्य श्री विभव सागर जी महाराज, परम पूज्य आचार्य श्री विमद सागर जी

एवं वहाँ की समाज ने लगभग २५ संघों के नायक होने से आपको गणाचार्य तथा २००७ शिरडशहापुर में हुये श्री मल्लिनाथ श्रीमज्जिनेन्द्र पंचकल्याणक महोत्सव के पावन सुअवसर पर परम पूज्य आचार्य विभवसागर जी महाराज एवं सकल दिगम्बर जैन समाज ने "वात्सल्य रत्नाकर" की उपाधि से विभूषित कर अपने जीवन में गुरु महिमा का प्रकटीकरण कर अपने जीवन को सौभाग्यशाली बनाया ।

इसी प्रकार आपके लिये समय-समय पर विभिन्न स्थानों पर विद्वानों ने उपाधियाँ दीं, यथा- सन् १९८८ बरासों में समाज ने "क्रांतिकारी संत", १९९४ बीना की समाज ने "बुंदेलखण्ड के प्रथमाचार्य", १९९९ भिण्ड में पण्डित सुमतिचंद्र जी शास्त्री ने "अध्यात्म सिद्धांत वारिधि", २००१ गया में श्री पण्डित लक्ष्मण प्रसाद जी ने "न्याय मार्तण्ड", २००२ श्रेयांसगिरि में "तीर्थ उद्धारक" एवं "संत शिरोमणि", २००४ राजिम में पण्डित श्री ऋषभकुमार जी ने "समाधि सम्राट", २००५ शमनेवाडी में परम पूज्य आचार्य गुणधरनंदी जी ने "ज्ञान दिवाकर" की उपाधि से विभूषित कर अपने जीवन को गौरवान्वित किया ।

अहिंसा और मानव धर्म के संदेशवाहक :

आज सर्वत्र 'हिंसा' का साम्राज्य है । यह हिंसा किसी जीव की नहीं वरन् उन मूल्यों की है जो हमारी संस्कृति के प्रबल आधार हैं । सांस्कृतिक मूल्यों का आज जिस तरह से न्हास हो रहा है वह अत्यन्त दुःखदायी है । मानवीय सम्बन्धों में जिस तीव्रता के साथ बेचारगी का बोलबाला बढ़ रहा है उससे आत्मीयता धीर-धीरे लुप्त होती जा रही है। संवेदनशून्य मानव आज जिस मुकाम पर खड़ा है वह एकदम हताश, निराश और विवश है, ऐसे नैराश्य के वातावरण में आचार्य श्री की वाणी के द्वारा जिन अमृत वचनों की वर्षा जगह-जगह पर हो रही है वह संत्रस्त मानवों के लिए संजीवनी की तरह जीवनदायिनी का काम कर रही है । जीवन का अर्थ क्या है ? इसे अर्थवान बनाने के लिए किन-किन चीजों की आवश्यकता होती है ? इतिहास के द्वारा स्मरण पाना कैसे संभव है ? आदि जीवन के उन शाश्वत सूत्रों का संदेश हमें आचार्य श्री के साहित्य में देखने को मिलता है। व्यक्ति को आज इस बात का बोध होना चाहिए कि सबसे बड़ा धर्म मानव धर्म है । इसकी रक्षा के लिए व्यक्ति को सतत् सचेत रहना चाहिए । आचार्य श्री ने मानव धर्म और महावीर के प्रमुख सिद्धान्त अहिंसा का जन-जन तक पहुँचाने का जो स्तुत्य कार्य किया है उसे इतिहास कभी विस्मृत नहीं कर पायेगा ।

* * *

संपादकीय

मोक्ष महल की परथम सीढ़ी या बिन ज्ञान चरित्रा,
सम्यकता न लहे सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा ।
दौल समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवे,
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहीं होवे ।।

दुर्लभता से प्राप्त होनेवाले इस मानव जीवन की सार्थकता पवित्र व निर्मल सम्यक् दर्शन को धारण करने से ही है । पंडित दौलतराम जी छहढाला के माध्यम से निज आत्म संबोधन कर रहे हैं। वास्तविकता में सम्यक् दर्शन ही मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी / प्रथम सोपान है तथा जिसके बिना ज्ञान व चारित्र सम्यक् अपने को प्राप्त नहीं होते है। ऐसा वह सम्यक् दर्शन ही उपादेय भूत है ।'सम्यग्दर्शन' सूर्य की वह प्राथमिक किरण है जो अपने प्रकाश से संपूर्ण प्राणी जगत में व्याप्त अज्ञान व मोह रुपी तिमिर को तिरोहित कर शाश्वत आनंद को स्फुरायमान कर देती है । जिसके स्वरुप का वर्णन करते हुए आचार्य समंतभद्र महाराजने कहा है -

श्रद्धानं परमार्थाना माप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढ़ा पोढ मएटाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ।। ४ र.श्रा.।।

परमार्थभूत देव, शास्त्र व सच्चे गुरु पर तीन मूढ़ता व आठ मदोंसे रहित व सम्यग्दर्शन के आठ अंगो सहित श्रद्धान करना सम्यक् दर्शन कहलाता है ।

जो जीव उपर्युक्त लक्षण से लक्षित सम्यग्दर्शन को अपने जीवन में अवधार्य करता है , वह अल्पकाल में ही मुक्ति लक्ष्मी का स्वामी बन जाता है व शाश्वत सुख/शाश्वत आनंद को प्राप्त कर लेता है । जिस प्रकार दुर्ग से रहित राजा, तिलक से रहित पंडित, नाक से रहित मुख तथा माँग में सिंदूर से रहित सौभाग्यवती स्त्री, शोभा को प्राप्त नहीं होती उसी प्रकार अंगहीन सम्यग्दर्शन शोभा व पवित्रता को प्राप्त नहीं होता । आचार्य समंतभद्र महाराज ने आठ अंगो की अनिवार्यता को बताते हुए कहा है -

नाङ्ग हीनं मलं छेत्तुं दर्शनं जन्म सन्तितम् ।
न हि मंत्रोऽक्षर न्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ।। २१ र.श्रा.।।

जिस प्रकार एक अक्षर न्यून मंत्र, विष की वेदना को दूर करने में समर्थ नहीं होता उसी प्रकार अंगहीन सम्यग्दर्शन जन्म संतति का नाश करने में समर्थ नहीं हो पाता है। अतः सम्यग्दर्शन को निर्मल व पवित्र बनाने के लिए आठ अंगों का होना अनिवार्य है वे अंग -

१) निःशंकित २) निःकांक्षित ३) निर्विचिकित्सा ४) अमूढ़दृष्टि ५) उपगूहन ६) स्थितिकरण ७) वात्सल्य एवं ८) प्रभावना है ।

निःशंकित अंग के स्वरुप का वर्णन करते हुए आ. समंतभद्र महाराज ने कहा है-

इदममेवेदृशमेव तत्वं नान्यन्न चान्यथा ।

इत्य कम्पाय साम्भोवत् सन्मार्गेऽसंशया रुचि : ।। ११ र.श्रा.।।

तत्व यह ही रहा है, इस ही प्रकार है, न अन्य है न अन्य प्रकार है इस प्रकार तलवार पर चढ़े पानी की तरह जिसकी अकंप श्रद्धा होती है वह निःशंकित अंग कहलाता है । निःशंकित सम्यक्त्व का धारी कैसी भी परिस्थिति उपस्थित होने पर अपनी श्रद्धा से चलायमान नहीं होता है, सच्चे देव, शास्त्र, गुरु पर उसकी अकाट्य, अविचल श्रद्धा होती है । इस अंग में प्रसिद्ध अंजन चोर ने अपनी निःशंकित श्रद्धा के बल पर मुक्ति श्री का वरण किया ।

द्वितीय अंग निःकांक्षित अंग है इसके स्वरुप का वर्णन करते हुए आ.श्री समंतभद्र महाराज ने कहा है -

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये ।

पापबीजे सुखे नास्थाऽश्रद्धाऽनाकाङ्क्षणा स्मृता ।। १२ र.श्रा.।।

कर्मों के अधीन,नश्वर,दुःखों से मिश्रित और पाप के कारण इंद्रिय संबंधी सुख में इच्छा रहित अनित्य रुप श्रद्धान् करना निःकांक्षित अंग कहलाता है।

निःकांक्षित सम्यक्त्व का धारी भगवान की अर्चना, पूजा, भक्ति किसी प्रकार की आकांक्षा को लेकर नहीं करता अपितु निष्काम भक्ति करता है इस अंग में प्रसिद्ध रानी अनंतमति ने अपनी निःकांक्षित भक्ति का अनूठा उदाहरण प्रस्तुत किया है । तीसरा

अंग निर्विचिकित्सा अंग है ।

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते ।

निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ।। १३ र.श्रा.।।

स्वरुप से अपवित्र किंतु रत्नत्रय से पवित्र शरीर में ग्लानि रहित होकर गुणों में प्रेम करना निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है । इस अंग का धारी मुनियों के मल सहित शरीर से ग्लानि नहीं करता अपितु उनके गुणों में प्रीति रखता है इस अंग में उद्‌यायन राजा प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ

कापथे पथि दुःखानां, कापथस्थेऽप्यसम्मतिः ।

असम्पृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ।। १४ र.श्रा.।।

दुःखोंके कारण भूत मिथ्यात्व आदि के विषय में और मिथ्यात्व आदि के धारक व्यक्ति के विषय में मन से सहमत नहीं होना, शरीर से सराहना नहीं करना, वचन से प्रशंसा नहीं करना अमूढ़दृष्टी अंग कहलाता है । अमूढदृष्टि अंग से सहित सम्यग्दृष्टि समस्त मूढ़ताओं से परे, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति दृढ श्रद्धानी होता है तथा किन्हीं भी परिस्थितियों में अपनी श्रद्धा से नहीं डिगता। इस अंग में रेवती रानी प्रसिद्धि को प्राप्त हुई। पांचवाँ अंग उपगूहन अंग है ।

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम् ।

वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति, तद्वदन्त्युपगूहनम् ।। १५ र.श्रा.।।

स्वरुप से पवित्र मोक्षमार्ग की अज्ञानी और असमर्थ पुरुषों के द्वारा उत्पन्न हुई निंदा को छिपाना उपगूहन अंग कहलाता है । इस अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जीव सदैव अपने गुण व दुसरे के दोषों का आच्छादन करता है तथा अपने दोषों व दूसरे के गुणों को प्रकट करता है । इस अंग में जिनेन्द्र भक्त सेठ प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ । छठवाँ अंग स्थितिकरण है -

दर्शनाच्चरणाद्वापि चरणाद्‌वापि चलतां धर्म वत्सलै: ।

प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते ।। १६ र.श्रा.।।

सम्यग्दर्शन से अथवा सम्यग्चारित्र से भी डिगते हुए जीवों को धर्म से प्रेम

रखनेवाले जीवों के द्वारा फिर से उसी में लगा देना विद्वानों के द्वारा स्थितिकरण कहा गया है । इस अंग का धारी स्वयं को तथा अपने साधर्मी को मोक्षपथ से विचलित होने से बचाता है और पुनः धर्म मार्ग में स्थित करता है इस अंग में राजा वारिषेण प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ । सातवाँ अंग वात्सल्य अंग है -

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥ १७ र.श्रा.॥

अपने साधर्मियों के प्रति सरलता सहित, मायाचारी रहित, यथायोग्य आदर-सत्कार आदि करना वात्सल्य अंग कहा जाता है, इस अंग का धारी अपने साधर्मी के प्रति गौवत्स सम निश्छल प्रीति रखता है इस अंग में विष्णुकुमार मुनि प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं । इसके बाद आठवाँ अंग प्रभावना अंग है ।

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
जिनशासनमहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥ १८ र.श्रा.॥

समुचित रीति से अज्ञान रुपी अंधकार के विस्तार को हटाकर जिन शासन की महिमा को प्रगट करना / फैलाना प्रभावना अंग कहलाता है । इस अंग का धारी अपने सम्यग्दर्शन की विशुद्धि को बढ़ाता हुआ जिन धर्म की प्रभावना हेतु अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देता है । इस अंग में वज्रकुमार मुनि प्रसिद्धि को प्राप्त हुए है ।

इस प्रकार ये आठ अंग सम्यग्दर्शन को विशुद्ध व निर्मल बनाने में प्रबल हेतु हैं। इन आठ अंगों से युक्त निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला चाण्डाल भी देवों के स्तुत्य हो जाता है कहा भी है -

सम्यग्दर्शनसंपन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥ २८ र.श्रा.॥

जिनेन्द्र देव सम्यग्दर्शन सहित भंगी को भी राख के भीतर ढ़के हुए अंगार के भीतरी प्रकाश के समान पूज्य (श्रेष्ठ) कहते हैं ।

अतः अपने सम्यग्दर्शन को निर्मल व विशुद्ध बनाने के लिए इन आठ अंगो को समझना अत्यंत अनिवार्य है ।

प्राणीमात्र इन अंगों के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सके इस हेतु करुणा की मूर्ति, वात्सल्य रत्नाकर परम पूज्य आचार्य गुरुवर विराग सागर जी महाराज ने अपनी प्रभावक अमृत मयी वाणी के माध्यम से भिलाई (२००३) में हुए चातुर्मास के दौरान श्रावकों की प्रार्थना को ध्यान में रखते हुए आठ अंगों पर अपना उपदेशामृत प्रदान किया तथा गुरुवर की महती अनुकंपा मुझ पर बरसी और इन प्रवचनों का संपादन कार्य करने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ । इस कार्य को करते समय मुझे अत्यंत आनंद की अनुभूति हुई तथा अपूर्व-अपूर्व परिणामों के उत्पन्न होने से कई गुनी विशुद्धि बढ़ी, मुझे आशा है यह कृति संपूर्ण प्राणियों के अंदर विशुद्धि अंश बढ़ाने में प्रबल हेतु बनेगी । इस कार्य को करते समय मुझे पूज्य गुरुवर का निर्देशन व सहयोग समय-समय पर मिलता रहा है इस कृति के संपादन में मेरा कुछ भी श्रम नहीं रहा अपितु पूज्य गुरुवर का वात्सल्य, आशीष व निर्देशन कार्यकारी रहा है किसी कवि ने ठीक ही कहा है -

"करते हैं मेरे गुरुवर मेरा नाम हो रहा है"

पूज्य गुरुवर की वक्तृत्व शैली इतनी प्रभावक है कि उनकी अमृतवाणी का रसपान करने प्राणी मात्र लालायित रहता है क्यों कि पूज्य गुरुवर के वचन स्पष्ट परिमार्जित और सबके लिए प्रिय लगने वाले होते हैं जिनका आशय जिनेन्द्र मत रुपी समुद्र के जल से धुला और निर्मल होता है । पूज्य गुरुवर की वक्तृत्व शैली अत्यंत सहज, सरल समस्त दोषों के अभाव से अत्यंत उज्वल, अनेक प्रश्नों व कुतर्कों को सहने वाली तथा गंभीर व प्रतिभा से युक्त होती है । अनेक उदाहरणों के द्वारा वस्तु स्वरुप को सरलरुप में कहने की अनुपम कला आप के अंदर है । जो भी प्राणी पूज्य गुरुवर की वाणी को श्रवण करता है वह अंतरंग में वैराग्य से युक्त हो पूज्य गुरुवर का ही हो जाता है।

ऐसी प्रभावक व आकर्षक वक्तृत्व शैली के धनी परम पूज्य गणाचार्य गुरुवर विराग सागर जी महाराज के आठ अंगो पर हुए प्रवचनों के संपादन कार्य हेतु श्रुतसेवा में संलग्न पूज्य आर्यिका श्री १०५ विशिष्ट श्री माताजीने मुझे प्रेरणा प्रदान की तथा उन्हीं कि सत्प्रेरणाओं के फलस्वरुप मैंने यह कार्य करने का साहस किया है । मेरी पूज्य माताजी से प्रार्थना है कि वे इसी तरह मुझे गुरु सेवा व श्रुत सेवा के कार्यों को करने हेतु

साहस व संबल प्रदान करती रहें तथा साथ ही आर्यिका विश्वास श्री माता जी ने इन प्रवचनों का संकलन कर मेरे कार्य को जो गति प्रदान की है उसके लिए मैं उनकी आभारी हूँ, साथ ही अन्य सभी आर्यिका माताजियों ने समय-समय पर जो सहयोग प्रदान किया उसके लिए सभी की अंतर मन से आभारी हूँ ।

अंत में वात्सल्य के सागर, करुण हृदय संत, जन-जन के प्रिय, उत्भट प्रज्ञा पुंज, बहुमुखी प्रतिभा संपन्न, सरलता की मूर्ति, कर्मठ कर्मयोगी, सागर सम गंभीर, धरती सम करुणाशील, सूर्य सम तेजस्वी, चंद्रमा सम शीतल, परिषह व उपसर्ग जयी, मम अंतस हृदय निवासी, परम श्रद्धेय, वात्सल्य रत्नाकर परम पूज्य गणाचार्य गुरुवर श्री १०८ विराग सागर जी महाराज के ''राष्ट्रीय रजत मुनि दीक्षा महोत्सव'' के अवसर पर मंगल शुभकामनाये प्रेषित करती हूँ तथा वीर प्रभु से प्रार्थना करती हूँ कि रजत महोत्सव के साथ-साथ हम शिष्यों को सुवर्ण व हीरक महोत्सव मनाने का भी सौभाग्य प्राप्त हो तथा पूज्य गुरुवर तीर्थंकर सम पुण्य प्रकृति का बंध कर हम सबको भी मोक्षपुरी कि यात्रा कराएँ पूज्य गुरुवर के रजत मुनि दीक्षा समारोह के सुअवसर पर मुझे श्रुत सेवा का अवसर प्रदान कर गुरुवर ने मुझ पर जो अनुकंपा की है उसके लिए पूज्य गुरुवर की आभारी हूँ । मुझ अल्पबुद्धि से इस कार्य को करते समय अनेक त्रुटियाँ संभव हैं । पूज्य गुरुवर मुझे उनसे अवगत करा करके दिशा बोध प्रदान करें । ताकि मैं भविष्य में उनकी पुनरुक्ति न करुं। इस पुनीत अवसर पर सिद्ध, श्रुत व आचार्य भक्ति पूर्वक पूज्य गुरुवर के पावन चरणों में कोटि-कोटि नमन् करती हूँ । गुरुवर के आशीष की अभिलाषी हूँ।

नमोऽस्तु - नमोऽस्तु- नमोऽस्तु

गुरुपद कमल निवासिनी - आर्यिका विदक्षा श्री.

२८।८।०७ उदगांव (महाराष्ट्र)

* * *

"आस्था की अनुगूंज"

गुरुणां पाद पद्मं च मुक्ति लक्ष्मी निकेतनम् ।
मे हत्सरसि सानन्दं क्रीडता मन्तरायहृत् ।।

गुरुओं के चरण कमल मुक्ति लक्ष्मी के निकेतन होते है वे चरण कमल मेरे हृदय सरोवर में नित्य क्रीडा करें। गुरुवर के चरण कमलों को अपने हृदय में अवधारित कर आज उस संवेदना से आपका साक्षात्कार कराने जा रही हूं जिसे पाकर आज धरती का कण-कण अपने आप को गौरवान्वित अनुभव कर निरंतर उसकी ही यशोगाथा गा रहा है वह सचेतन प्रतिमा और कोई नहीं, हमारे अंतस हृदय निवासी, निर्मल चारित्र के धारी, वात्सल्यता के आकर परम पूज्य गणाचार्य श्री १०८ विराग सागर जी महाराज ही है, जिनकी गुण वैराट्यता को शब्दों के सेतु में बांध पाना मुझ सम अल्पज्ञ के लिए शक्य नहीं है अपितु गुरु भक्ति, भक्त को वाचाल बना देती है।

पूज्य गुरुवर के प्रकाण्ड पांडित्य को आज साधु-संतों व बड़े-बड़े विद्वानों और श्रेष्ठीवर्गों ने सराहा है । पूज्य गुरुवर की आध्यात्म परक दृष्टि, आगम सिद्धान्त, व्याकरण, न्याय आदि संपूर्ण विषयों से समन्वित है, पूज्य गुरुवर अपनी अद्भुत, आकर्षक, धारावाहिक शैली के माध्यम से जब वस्तु तत्व का प्रतिपादन करते है तो श्रोताओं का अंतर मन अनुपम आल्हाद का अनुभव करता है आपके अंतरंग से प्रस्फुटित वाणी आगम और आध्यात्म के निचोड़ से प्राप्त वह मक्खन है जो श्रोता की आंतरिक संचेतना को जाग्रत कर वैराग्य को उत्प्लावित करती है ।

आपका दार्शनिक दृष्टिकोण व अनुभव परक अनुभूतियाँ प्रकृति के उन गूढ़ रहस्यों की उद्घाटक होती है जो कि पारलौकिक परमात्म शक्ति के अस्तित्व का जयघोष करती है, तथा आगम के आलोड़न से प्राप्त रहस्य को आप बड़ी सरलता से प्रतिपादित कर जन प्रिय, लोकप्रिय बना देते हैं यह आपकी शैली की बहुत बड़ी विशेषता है ।

आपने अनेकों कृतियों का सृजन कर आगम का सरलीकरण कर हम सब पर अनन्य उपकार किये हैं, आपकी वक्तृत्व कला अपने आप में अनुपम, अनूठी है, जिसके माध्यम से आपने मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी, प्रथम सोपान सम्यग्दर्शन के अष्ट अंगो का बड़ी सूक्ष्मता के साथ विवेचन किया है, ये आठ अंग ही सम्यग्दर्शन को निर्मल व विशुद्ध बनाते हैं, आप ने अपने प्रवचनों के माध्यम से प्राणी मात्र के अंतरंग में अनादि से भरे

मिथ्यात्व रुपी अंधकार को दूर कर सम्यक्त्व रुपी प्रकाश को स्फुरायमान किया है। आपके मुख कमल से निःसृत अमृत मयी वाणी को पूज्य आर्यिका विशिष्ट श्री माता जी की प्रेरणा से पूज्य आर्यिका विश्वास श्री माता जी ने संकलित कर तथा आर्यिका विदक्षा श्री माता जी ने संपादन कर जो कृति रुप प्रदान किया है वह श्रुत सेवा व गुरु भक्ति का अनुपम कार्य है, वे इसी तरह श्रुत सेवा व गुरुभक्ति के माध्यम से गुरु अनुग्रह को प्राप्त कर सरस्वती के भंडार को वृद्धिंगत करे उनके प्रति ऐसी पुनीत भावनाएँ भाती हूँ ।

अंत में ज्ञान की साक्षात् मूर्ति, प्रज्ञा पुंज, जन-जन के चित्त को हरनेवाले, सुसौम्य मूर्ति, वात्सल्य रत्नाकर, सिद्धान्त रत्न, अद्‌भुत वक्तृत्व शैली के धनी, कोमल हृदयी, कठोर चारित्र पालक, करुणा की मूर्ति, मम अंतस हृदय निवासी परम पूज्य गणाचार्य गुरुवर विराग सागर जी महाराज के ''राष्ट्रीय रजत मुनि दीक्षा महोत्सव'' के पावन अवसर पर यही मंगल भावना भाती हूँ कि पूज्य गुरुवर दीर्घायु हो, उन्हें आरोग्य की प्राप्ति हो तथा पूज्य गुरुवर शीघ्र ही उस परम पद को प्राप्त कर हमें भी उस शाश्वत सुख को प्राप्त करने हेतु अपना पावन आशीष प्रदान करें । पूज्य गुरुवर के चरण कमलों में त्रयभक्ति पूर्वक कोटिशः नमन करती हूँ ।

नमोऽस्तु - नमोऽस्तु- नमोऽस्तु

गुरुपद कमल सेविका - आर्यिका विप्रा श्री.

" निःशंकितता है प्रथम चरण"

१) श्रद्धानं परमार्थानां, आत्मागमतपोभृतां।

त्रिमूढापोढमष्टांगं, सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४ र.श्रा.॥

– सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का तीन मूढ़ता रहित, आठ अंग सहित तथा आठ मद रहित श्रध्दान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है ।

२) इदममेवेदृशमेव तत्वं नान्यन्न चान्यथा ।

इत्य कम्पाय साम्भोवत् सन्मार्गेऽसंशया रुचि : ॥ ११ र.श्रा.॥

– परमार्थ स्वरुप तत्व का लक्षण यह ही है, इस प्रकार ही है, न अन्य है और न अन्य प्रकार से है इस प्रकार सच्चे देव-शास्त्र व गुरु के विषय में तलवार की धार पर चढ़े हुए पानी के समान अटल श्रद्धान करना निःशंकित अंग कहलाता है।

३) मुग्धा श्रुत विनिश्चेया न हि युक्ति वितर्किणः ॥५८ क्ष.चू.॥

– निःशंकित अंग का धारी जीव सच्चे गुरु के मुख से निःसृत वाणी पर पत्थर की लकीर की तरह दृढ़ श्रद्धानी होता हुआ शब्दशः युक्ति आदि को विचारे बिना पालन करता है

४) 'वक्तृ प्रमाण्यात् वाक्य प्रमाण्यम्' ।

वक्ता की प्रमाणिकता से वचनों में भी प्रामाणिकता आ जाती है ।

जिनधर्मविनिर्मुक्तो, मा भवेच्चक्रवर्त्यपि।

स्याच्चेटोऽपि दरिद्रोऽपि, जिन धर्मानुवासितः ॥ द.पा.॥

– जिनधर्म से रहित चक्रवर्ती का पद भी मुझे स्वीकार नहीं है तथा जिनधर्म के साथ दरिद्र होना भी स्वीकार है ।

" निःशंकितता है प्रथम चरण"

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि का ध्यान दुःख का भंडार है, उनके तप का फल संताप मात्र है, स्वाध्याय भी निश्चय से निष्फल है, इंद्रिय निग्रह भी दुराग्रह है, दान और शील की तुलना भी लाभदायक नहीं है और तीर्थादि की यात्रा व्यर्थ है । परमार्थ से निःशंकित सम्यक्त्व बिना अन्य सभी कार्य भीतर से निष्फल है ।

भव्य बंधुओं ! पूज्य आचार्य श्री समंतभद्र महाराज जो कि न्याय के एक प्रकाण्ड विद्वान हुए हैं उन्होंने अपने रत्नकरण्डक श्रावकाचार ग्रंथ में सम्यग्दर्शन के स्वरुप का वर्णन करते हुए कहा है कि -

श्रद्धानं परमार्थानां, आत्मागमतपोभृतां ।
त्रिमूढापोढमष्टांगं, सम्यग्दर्शनमस्मयम् ।।४ र.श्रा.।।

सम्यग्दर्शन के व्याख्यान में आचार्य महाराज ने सच्चे देव-शास्त्र गुरु के ऊपर सच्ची, दृढ़ श्रद्धा करने को कहा है परंतु खाली श्रद्धा ही महत्वशाली नहीं है अपितु वह श्रद्धा हमारी कैसी होनी चाहिए तो उस श्रद्धा की भी उन्होंने एक विधि बतलायी है कि वह श्रद्धा तीन मूढ़ता रहित तथा आठ अंग सहित होनी चाहिए।

परंतु आचार्य महाराज ने तीन मूढ़ता के पूर्व आठ अंगो का वर्णन किया है क्योंकि तीन मूढ़ता के पूर्व आठ अंगों को जानना अनिवार्य है। यदि आठ अंग को अच्छी तरह समझ लिया तो मूढ़ताओं को आसानी से समझा जा सकता है । आचार्य समंतभद्र महाराज उन आठ अंगो की महिमा व अनिवार्यता को बताते हुए कह रहे है - कि जिस प्रकार लौकिकता में हम बच्चे का जन्म सांगोपांग चाहते हैं। अंग विहीन नहीं। उसी प्रकार अंग विहीनता धर्म क्षेत्र में भी बाधक मानी गयी है, अंग विहीन व्यक्ति अभिषेक व आहार दान नहीं दे सकता। व्यक्ति तभी श्रेष्ठ माना जाता है जबकि सांगोपांग हो, जिस प्रकार शरीर में दो हाथ, दो पैर, एक कमर, छाती, पीठ व सिर ये आठ अंग है

इनमें से एक के भी न होने पर व्यक्ति अधूरा, अपूर्ण रहता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के आठ अंग निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य एवं प्रभावना से ही मुक्ति की प्राप्ति होना संभव है परंतु इनमें से किसी एक अंग के भी अभाव में वह सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जा सकता है । शिष्य अबोध व जिज्ञासावान है, ज्ञान पिपासु है वह गुरुदेव के निकट आग्रह करता है आचार्य समंतभद्र महाराज बड़े दयालु थे, वे समाधान देते हैं, दोनों ही प्रशन्न है शिष्य समाधान पाकर खुश है तो गुरु योग्य शिष्य पाकर। वह शिष्य जिज्ञासा की दृष्टि से तत्व को समझना चाहता है, आचार्य समंतभद्र महाराज आठ अंगों के वर्णन की प्रतिज्ञा लेते हैं और कहते है कि सम्यग्दर्शन के आठ अंगो में प्रथम अंग निःशंकित है। तब शिष्य कहता है कि हे गुरुदेव, मुझे आप उस प्रथम अंग के विषय में समझाइए मुझ पर करुणा व दया कीजिए।

तब आचार्य श्री समंतभद्र महाराज प्रथम अंग का वर्णन करते हुए कहते है –

इदममेवेदृशमेव तत्वं नान्यन्न चान्यथा ।

इत्य कम्पाय साम्भोवत् सन्मार्गेऽसंशया रुचि : ।। ११ र.श्रा.।।

अर्थात् तत्व यह ही है तथा इसी प्रकार ही है। न अन्य है न अन्य प्रकार है। एक ही बात को कहने के दो प्रकार है एक विधि पक्ष और एक निषेध पक्ष। यदि विधि रुप से कोई बात कह दी जाती है तो निषेध पक्ष स्वयंसिद्ध हो जाता है। यदि निषेध रुप से कोई बात कही जाती है तो विधि पक्ष स्वयं सिद्ध हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि किसी व्यक्ति से कहो कि रात्रि भोजन नहीं करना चाहिए इसका अर्थ ही यह है कि भोजन दिन में ही करना चाहिए अर्थात् निषेध पक्ष से बात कहीं गई तो विधि पक्ष स्वयं सिद्ध होगा। अब यदि कोई कहे कि दिन में ही भोजन करना चाहिए तो इसका अर्थ हुआ कि रात्रि में नहीं करना चाहिए अर्थात् विधि रुप से बात कहने पर निषेध पक्ष स्वयं सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार आचार्य महाराज यहाँ तत्व को विधि रुप से कह रहे है कि तत्व यही है, इसी प्रकार है तो निषेध पक्ष न अन्य है, न अन्य प्रकार है यह स्वयंमेव सिद्ध हो जाता है। अर्थात् जो वीतरागी देव है वे ही सच्चे देव है, सर्वज्ञ द्वारा कथित जिनवाणी ही सच्चा शास्त्र है और जो निर्ग्रंथ है वे ही सच्चे गुरु है। अन्य कोई देव, आदि सच्चे देव, सच्चे शास्त्र व सच्चे गुरु नहीं हैं । इस प्रकार सच्चे देव, शास्त्र, गुरु पर जो पानी चढ़ी तलवार क्री तरह अकंप श्रद्धा रखता है वही निःशंकित सम्यक्त्व का धारी हो सकता है ।

आचार्य कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा पानी चढ़ी तलवार की तरह होती है अर्थात् जिस प्रकार लोहे की तलवार पर पानी चढ़ा देते हैं. तो उसकी धार अच्छी रहती है तथा वह मुड़ती भी नहीं अकंप हो जाती है उसी तरह की मजबूत श्रद्धा जिसकी हो जाती है वह निःशंकित सम्यक्त्व धारी हो जाता है ।

परंतु जो छोटी-छोटी बातों से प्रभावित हो जाते हैं । उनका सम्यक्त्व निःशंकित कैसे हो सकता है । उदाहरण के लिए एक व्यक्ति महाराज के पास गया परंतु महाराज ने उसे आशीर्वाद नहीं दिया, सिर उठाकर भी नहीं देखा फिर आप उसके परिणाम तौलिए वह कहता है मेरी तो महाराज पर अब श्रद्धा ही नहीं रही पहले उनके पास जाता था तो आशीर्वाद देते थे और अब तो सिर ऊपर उठाकर भी नहीं देखते। यदि कोई हमारा थोड़ा सम्मान कर देता है तो हम कहते है हम धन्य हैं आप जैसा कोई नहीं है और यदी कहीं अपमान हो गया तो श्रद्धा समाप्त हो गई। इसका मतलब है कि आप ने श्रद्धा की कीमत सम्मान के रुप में समझी । क्या सम्मान ही श्रद्धा है ? नहीं भैय्या, श्रद्धा की इतनी थोडी कीमत नहीं होती। कभी हम देखते है कि महाराज ने आपको पेन कापी आदि दे दिया तो आप खुश हो जाते हैं वाह, महाराज ने हमे पेन दे दिया और कदाचित् किसी को नहीं दिया तो व्यक्ति के परिणाम देखिए वह कहता है महाराज हमें तो कुछ नहीं देते इसलिए हमने तो उनके पास जाना ही बंद कर दिया इसका अर्थ है कि आपने श्रद्धा को उस वस्तु से भी छोटा समझा।

तात्पर्य यह है कि हमारी श्रद्धा अज्ञानता की भूमिका में रहती है अज्ञानी की श्रद्धा साग भाजी की तरह हो जाती है अथवा यूं भी कह सकते है कि अज्ञानी की श्रद्धा वास्तविक होती ही नहीं है वह तो मात्र श्रद्धा का दिखावा हो सकता है यथार्थ श्रद्धा नहीं।

परंतु जब व्यक्ति के जीवन में धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा जगती है तब वह छोटी-छोटी बातों में डंवाडोल नहीं होता तथा उसका कितना भी अपमान हो जाए, उसे कुछ भी न दिया जाए अधिक सारी सामग्री छीन भी जाए, बड़े से बड़ा कष्ट दिया जाए, पहाड़ से पटक दिया जाए तो भी उसकी अंतरात्मा से श्रद्धा ही निकलेगी अतः किसी ने कहा भी है -

पानी चढ़ी धार के जैसी श्रद्धा हो निश्चल।
मोक्षमार्ग में वही है होती सार्थक और सफल ॥

निःशंकित सम्यक्त्व से ही तुम आत्मरुप को जानो।
सम्यग्दर्शन पा मुक्ति वधु को फिर समीप ही मानो ॥

सच्चे सम्यक्त्व का धारी देवशास्त्र गुरु की आज्ञा को बिना किसी तर्क-वितर्क किये स्वीकार कर लेता है । सिक्ख व पंजाबी लोगों में जब कोई व्यक्ति कुछ गलती कर देता है तो उनके गुरु जो भी दंड दे देते हैं उसे सभी बिना तर्क के स्वीकार कर लेतें है यदि गुरु ने कह दिया कि ४-५ दिन तक बाहर बैठकर सबके जूते चप्पल साफ करना है तो उसमें कोई तर्क नहीं किया जाता ।

एक बार ज्ञानी जेलसिंह जो कि राष्ट्रपति थे उनके लिए एक बार उनके गुरु ने दंड दिया कि आपको अपने बालों से, अपनी चोटी से पूरा गुरुद्वारा साफ करना है तब बिना किसी अभिमान के उन्होंने गुरु आज्ञा को स्वीकार कर लिया।

यानि कहने का तात्पर्य यह है कि अन्य संप्रदायों में भी ऐसी स्थिति है कि जो उनके गुरु ने कह दिया तो पत्थर की लकीर बन जाती है । वे लोग अपने गुरु की बहुत गरिमा रखते है, मर्यादा रखते है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो गुरु का सच्चा श्रद्धालु होता है वह तर्क-वितर्क नहीं करता है । तभी उसकी श्रद्धा सच्ची धार्मिक श्रद्धा होती है। कहा भी है -

वह श्रद्धा धार्मिक कहीं, जो इत उत न जाए।
भविक जनों के अंतर्मन में ज्ञान विवेक जगाए॥
ऐसा है बाजार नहीं, जहाँ मोल मिल जाए।
श्रद्धा बिन यह चेतना पग-पग धोखा खाए॥

अर्थात् यदि जीवन में सच्ची धार्मिक श्रद्धा होती है तो व्यक्ति संसार रुपी घोर समुद्र को भी पार कर लेता है। श्रद्धा के लिए बाहरी ज्ञान की नहीं अपितु आंतरिक भक्ति समर्पण की आवश्यकता होती है। यह आवश्यक नहीं कि आपके पास बड़ी बड़ी डिग्रियाँ हो तभी सम्यग्दर्शन होगा उनके अभाव में भी भावश्रुत के बल से जीव शिव सुख को पा सकता है। शिवभूति महाराज जिन्हें १२ वर्ष तक अथक परिश्रम करने पर भी कुछ भी याद नहीं होता था फिर भी भावश्रुतज्ञान के बल से उन्होंने मुक्ति को पा लिया।

अतः निकट भव्य भद्र परिणामी जीव अपने निःशंक श्रद्धा के बल से मुक्ति श्री को पा लेता है तथा गुरु की वाणी पर दृढ़ श्रद्धान रखता है सच्चे गुरु के मुख से निःसृत

वाणी पर पत्थर की लकीर की तरह दृढ़ श्रद्धानी होता हुआ शब्दशः युक्ति आदि को विचारे बिना पालन करता है । क्षत्र चूड़ामणि ग्रंथ में कहा गया है –

मुग्धा श्रुत विनिश्चेया न हि युक्ति वितर्किणः ॥५८॥क्ष.चू.

एक बार की बात है कि पंडित जी थे। जो कि श्रावकों को समय-समय पर उपदेश देते थे, एक बार उन्होंने अपने उपदेश में कहा कि भगवान का नाम लेने से प्राणी संसार से पार हो जाता है । पंडित जी का उपदेश एक बुढ़िया सुन रही थी वह सम्यग्दृष्टि थी अतः पंडित जी की बात को गांठ बाँध लेती है, अब वह रोज पंडित जी के प्रवचन सुनने अपने घर से आती है परंतु एक बार लगातार बरसात होने पर बीच रास्ते में नदी भर गई । उसे पंडित जी के प्रवचन की बात याद आयी कि जो भगवान का नाम लेता है वह संसार से पार हो जाता है वह भी भगवान का नाम लेती है और नदी में कूद जाती है तथा तैरकर उस पार चली जाती है। एक दिन उसने पंडित जी को भोजन के लिए बुलाया और सविनय लेने आयी, नदी के घाट पर आते ही पंडितजी बोले-अच्छा तो तुम्हारा घर नदी के उस पार है, तो वह बुढ़िया कहती है हाँ पंडित जी, पंडित जी कहते है तो नाव कहाँ है तो बुढ़ियाँ कहती है अरे ! पंडित जी नाव की क्या आवश्यकता है । पंडित जी कहते है नाव नहीं होगी तो उस पार कैसे जाऊँगा, नाव तो होनी चाहिए बुढ़ियाँ कहती है पंडित जी -भगवान का नाम लेकर नदी में कूद जाओ तो शीघ्र ही पार जाओगे, पंडित जी घबराये और बोले अरे बावली, पार हो जाऊँगा कि डूब जाऊंगा। बुढ़िया कहती है नहीं, नहीं पंडित जी आप डूबोगे नहीं पार हो जाओगे। यह मंत्र आपने ही तो बताया था कि जो भगवान का नाम लेता है वह संसार समुद्र से पार हो जाता है। तब पंडितजी बोले-अरे ! मैंने तो संसार समुद्र से कहा था नदी से नहीं। बुढ़िया कहती है पंडितजी, भगवान के नाम से संसार समुद्र से पार हो सकते हैं तो छोटी नदी से पार क्यों नहीं हो सकेंगे अर्थात् अवश्य ही हो जायेगे ।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रायः भोले प्राणी सरल परिणामी होने से बिना तर्क-वितर्क के ही शीघ्र संसार से पार हो जाते हैं।

परंतु आज का व्यक्ति कितने तर्क-वितर्क में जी रहा है वह धर्म और विज्ञान को एक ही तराजू पर रखकर केवलज्ञानी और वैज्ञानिकों के ज्ञान को समकोटी पर गिनने लगा है। व्यक्ति कहता है यदि भगवान के पास केवलज्ञान है तो उन्होंने Computer आदि

क्यों नहीं बनाए। अरे भैया ! विज्ञान जो कहता है, करता है वह आज तक ही रहता है एक क्षण बाद ही परिवर्तन आ जाता है । एक बार किसी वैज्ञानिक ने अपना लेख निकाला कि सामान्यतः पृथ्वी तो एक लड्डू की तरह, गेंद की तरह एकदम गोल है फिर परिवर्तन हुआ और कहा गया कि पृथ्वी तो नारंगी की तरह है व उसके उत्तरी व दक्षिणी ध्रुव थोड़े चपटे है। इसी प्रकार विज्ञान ने अणु की परिभाषा देते हुए कहा था कि इसका दूसरा भाग न हो सके वह अणु है परंतु बाद में और अधिक खोज हुई और तब विज्ञान की परिभाषा बदल गई उसने अणु के १) इलेक्ट्रॉन २) प्रोटॉन ३) न्यूट्रान आदि अनेक भेद कर दिये। इसी प्रकार समय के विषय में भी विज्ञान के मत अनेक हैं । पहले विज्ञान सेकेंड को समय की सबसे छोटी ईकाई मानता था परंतु अब सेकेंड से छोटी भी ईकाईयों की खोज हो चुकी है. परंतु हमारे केवलज्ञानी सर्वज्ञ देव के सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन नहीं आता। केवलज्ञानी ने काल की सबसे छोटी ईकाई को 'समय'कहा है और जिसके भाग होते रहेंगे वह समय नहीं। पहले विज्ञान पेड़-पौंधो को जीव नहीं मानता था परंतु बाद में विभिन्न प्रयोगों के द्वारा उसने वनस्पति में जीव को स्वीकार किया। जब कि केवलज्ञानी तो पहले ही वनस्पति को जीव कहते थे । इसी प्रकार Computer के द्वारा तो कुछ ही अंको का गणित हल हो सकता है पर केवलज्ञानी के ज्ञान में अनंतसंख्या एक साथ, एक समय में दिखती है अतः विज्ञान, दूरदर्शन, Computer तो दे सकता है पर आत्मदर्शन नहीं.

Science can give Television & Computer but not self faith or self vision.

विज्ञान भौतिक विकास तो दे सकता है पर आत्मविश्वास नहीं।

अतः आज विज्ञान और वैज्ञानिक केवलज्ञानी के चरणों में नतमस्तक है कि हे भगवन् ! धन्य है आप मैंने जिस वस्तु की खोज आज की, आप ने अपनी देशना में उसका प्रतिपादन पहले ही कर दिया। हे भगवन् ! आपने जो कहा वही सत्य है तथा जो आपने कहा उससे अन्य कुछ नहीं हो सकता। पहले विज्ञान अपने को सबसे बड़ा मानता था परंतु खोजबीन हुई तो वे स्वीकार करते हैं कि हमसे भी बड़ा ज्ञानी ज्येष्ठ व महान भी संसार में कोई है और वह है केवलज्ञानी।

हम केवलज्ञानी को वैज्ञानिक से तौलने लगते हैं । जबकि वैज्ञानिक मानता है कि हमसे भी बड़ा ज्ञानी है । हम इस बात का ध्यान रखें कि शास्त्रों में जो कुछ कहा गया

है वह सामान्य व्यक्ति ने नहीं कहा अपितु सर्वज्ञ देव ने कहा है तथा वक्ता प्रमाणिक होने से वचन भी प्रमाणिक माने जाते हैं।

'वक्तृ प्रमाण्यात् वाक्य प्रमाण्यम्'।

आचार्य महाराज कहते है सच्चे देव, शास्त्र, गुरु ही प्रमाणिक होते हैं अन्य नहीं। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु पर जब विश्वास जागता है तो फिर संशय नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति हमारा अत्यंत करीबी है, घनिष्ठ है तो हम उसकी प्रत्येक बात पर पूर्णतः विश्वास कर लेते हैं। यदि विश्वासपात्र व्यक्ति है तो उसके वचन भी विश्वसनीय हो जाते है।

यदि कोई बात शराबी कहता है तो वह प्रमाणित नहीं होती और यदि वही बात कोई प्रतिष्ठित सज्जन व्यक्ति कहें तो वह प्रमाणित, विश्वसनीय होती है। शब्द वही है परंतु वक्ता भिन्न है अतः वक्ता की प्रमाणिकता अति आवश्यक है मिथ्यादृष्टि के सत्य वचन भी प्रमाणिक नहीं होते हैं परंतु सम्यग्दृष्टि के शब्द सदा प्रमाणित होते है वह विश्वासपात्र होता है ।

पूज्य आचार्य श्री विमल सागर जी हमेशा कहा करते थे कि हमें विश्वास पात्र बनना चाहिए, और कभी ऐसा कार्य नहीं करना जिससे विश्वास टूटे, विश्वास के बल पर ही संसार के सारे रिश्ते टिके रहते है गुरु-शिष्य का रिश्ता, माँ-बेटे का रिश्ता पति-पत्नि का रिश्ता ये सब विश्वास पर आधारित है। अतः यदि आप से गल्ति हो जाए तो स्वयं आकर बता देना, प्रायश्चित दंड से नहीं अपितु विश्वास टूटने से डरना क्यों कि विश्वास टूटते ही भ्रांतियों के बीज अंकुरित होते हैं, प्रेम, वात्सल्य, सहयोग की भावना दूर होती है जो हमें हमारी भक्ति, समर्पण, आस्था से गिरा देती है। गुरु अपने शिष्य के हृदय में मात्र विश्वास की सुगंध चाहते है क्यों कि विश्वास है तो उपलब्धियाँ, सुख, शांति, गुरु वात्सल्य की वर्षा स्वयमेव होती है। गुरु ने तुम पर विश्वास करके तुम्हें दीक्षा दी, शिक्षा दी अतः तुम्हारा भी कर्त्तव्य है कि सच्चे समर्पित शिष्य की तरह गुरु चरणों में रहना कभी विश्वासघात नहीं करना क्योंकि देवशास्त्र गुरु के प्रति किया गया अविश्वास हमें दुःख सागर में गिरा देता है । सत्य ही कहा है कि -

Untrust is mother of sin doubts.

अर्थात् अविश्वास शंका रुपी पाप की जननी है ।

जैसे यदि कोई व्यक्ति एक बार चोरी करता हुआ पकड़ा जाए तो फिर वह कितना भी विश्वास दिलाए कि अब मैं चोरी नहीं करुँगा वह नियम भी लेता है परंतु फिर भी कोई उस पर विश्वास नहीं करता।

अतः बंधुओं ! अपने आस्था के आलोक पर मजबूत निःशंकित अंग की परत चढ़ा लेना कहीं इसमें कोई दरार न आ जाए। ध्यान रखना हाथ पैर टूटे तो टूटे परंतु श्रद्धा फेक्चर न हो क्योंकि श्रद्धा के फेक्चर को जोड़ना कठिन है टूटा धागा कभी जुड़ नहीं सकता, जुड़ेगा भी तो गाँठ पड़ जाएगी । कहा भी है -

जुड़े नहीं टूटा विश्वास, जुड़े तो पड़ती गाँठ ।
अविश्वास मृत्यु से बढ़कर, सीखो तुम ये पाठ ।।

पूज्य आचार्य श्री कहते हैं कि कभी भी विश्वास नहीं तोड़ना, विश्वास न टूटे इसके लिए कमर कसे रहना । विश्वास पर ही सारा संसार टिका है। यदि गुरु दण्ड दे तो स्वीकार कर लेना। गल्ति से नहीं, दण्ड प्रायश्चित्त से नहीं अपितु विश्वास टूटने से डरना और अपराध को नहीं छिपाना।

प्रायश्चित्त ग्रंथ में कहा गया है - जब अपराध को स्वयं प्रकट कर दिया है तो वह कम हो जाता है परंतु आलोचना में कमी करने से प्रायश्चित बढ़ जाता है ।

एक उल्लेख आता है कि - एक चोर था, वह चोरी करके जंगल से गुजर रहा था परंतु पापी का भी पुण्यावसर था कि मुनिराज के दर्शन प्राप्त हुए उसने श्रद्धा पूर्वक दर्शन किए तब मुनिराज ने उसे नियम संयम लेने को कहा- महाराज बोले- तू चोरी का त्याग कर दे। चोर बोला - महाराज, मैं चोरी का त्याग नहीं कर सकता तब मुनिराज बोले - ठीक है तू झूँठ का त्याग कर दे, वह तैयार हो गया एवं उसने नियम ले लिया। एक बार वह राजमहल में चोरी करने गया। द्वारपाल ने पूछा - तुम कौन हो ? वह बोला मैं एक चोर हूँ, कहाँ जा रहे हो ? चोरी करने। द्वारपाल सोचते है कि यह जरुर कोई परीक्षक है तो वे उसे अंदर जाने देते है और वह अपने स्थान पर पहुँच जाता है पोटली भरता है और वापिस चला जाता है वह विचारता है कि महाराज का नियम फलदायी है, जैन मुनियों के नियम कल्याणकारी है, अभी तक अनेक जतन करने पड़ते थे तब धन प्राप्त होता था। सुबह चर्चा फैलती है कि राजमहल में चोरी हुई है, द्वारपाल, पहरेदार बुलवाए गए । मंत्री ने पूछा- कौन आया था ? पहरेदार बोले - कोई व्यक्ति आया था, मंत्री बोला वह कौन

था। पहरेदार – सरकार, क्षमा करे वह स्वयं को चोर कहता था परंतु हमने समझा कि इसमें कोई रहस्य है क्योंकि उसमें चोर के लक्षण प्रतीत नहीं होते थे ।

राजा ने कहा– उसकी खोज करो, चारो ओर घोड़े दौड़ाए गए और एक वृक्ष के नीचे उसे खोज लिया गया उससे पूछा गया – तुम कौन हो ? वह बोला – मैं चोर हूँ, उससे पूछा गया कि कहाँ चोरी की– राजमहल में। उसे राजा के समक्ष लाया गया। राजा ने भी यही पूछा, सत्य सुनते ही उसका आवेग समाप्त हो गया । राजसभा में उस चोर की सत्यता को देखकर उसका सम्मान किया गया ज्ञात हुआ कि परिस्थिती वश वह चोरी करता था, तब राजा उसको बहुत सा धन दौलत देता है परंतु चोर मना कर देता है कि इस दौलत की अब मुझे आवश्यकता नहीं है । वह राजा को अपने गुरु से लिए व्रत के बारे में बताता है कि मात्र एक सत्यव्रत का पालन करने पर जब इतना फल मिलता है तो फिर सारे व्रत धारण करने से कितना फल मिलेगा। इसीलिए में अब व्रतों को ही धारण करुँगा वह दीक्षा ले लेता है साथ ही राजा को भी वैराग्य हो जाता है और वह भी दीक्षा ले लेता है, गुरु भी उस चोर की विश्वासपात्रता देखकर दीक्षा दे देते है उन्होंने यह नहीं सोचा कि यह चोर है। गुरु अपने शिष्योंमें विश्वास देखना चाहते हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शन में श्रद्धा, विश्वास ही आधार स्तंभ है। जब व्यक्ति सम्यग्दर्शन की गहराई में डूबता है तो कहता है कि मुझे सारे दुःख, कष्ट स्वीकार है परंतु सम्यग्दर्शन को छोड़ना स्वीकार नहीं है। दर्शन पाठ में भी कहा गया है –

जिन धर्म विनिर्मुक्तो, मा भवेच्चक्रवर्त्यपि।
स्याच्चेटोऽपि दरिद्रोऽपि, जिन धर्मानुवासितः ।।

अर्थात् जिनधर्म से रहित चक्रवर्ती का पद भी मुझे स्वीकार नहीं तथा जिनधर्म के साथ दरिद्र होना भी स्वीकार है । एक सच्चा भक्त यही भावना भाता है कि मेरी श्रद्धा कभी भी न डगमगाए कितने भी कष्ट आये, तकलीफे आये परंतु मेरी श्रद्धा का दीपक सदैव जलता रहे।

बंधुओं ! सम्यग्दर्शन रुपी रत्न को अपने प्राणों से भी अधिक संभाल कर रखना । कभी अधर्म और अधर्मी की बातों से प्रभावित नहीं होना, क्योंकि एक बार भी शंका रुपी पवन से यदि आपका श्रद्धा का दीपक बुझ जायेगा तो वह आपको मिथ्यात्व

रुपी अंध कूप में गिरा देगा फिर आप जो भी क्रियाएँ करेंगे उससे सुख नहीं अपितु दुःख होगा। क्योंकि कहा भी है -

ध्यानं दुःख निधानमेव तपसः संताप मात्रं फलं ।
स्वाध्यायोऽपि हि बन्ध्य एव कुधिया ते निग्रहाः कुग्रहाः ।।
अश्लीलाः खलु दानशीलतुलना तीर्थादियात्रा वृथा।
सम्यक्त्वेन विहीनमन्यदपि यतत्सर्व मन्तर्गडुः ।। २१ शु.।।

अर्थात् अज्ञानी मिथ्यादृष्टि का ध्यान दुःख का भंडार है, उसके तप का फल संताप मात्र है, स्वाध्याय भी निश्चय से निष्फल है. इंद्रिय निग्रह भी दुराग्रह है, दान और शील की तुलना भी लाभदायक नहीं है और तीर्थादि की यात्रा व्यर्थ है। परमार्थ से निःशंकित सम्यक्त्व के बिना अन्य सभी कार्य भीतर से निष्फल है।

बंधुओं ! इससे विपरीत यदि आपकी अंतर आस्था रुपी दीपक में यदि निःशंकित अंग रुपी कवच लगा होगा तो वह चिरकाल तक प्रज्ज्वलित रहेगा फिर आपके द्वारा की गई भक्ति में, नमस्कार में अनेकों अतिशय व चमत्कार होंगे जिस प्रकार एक चोर ने अपनी निःशंक श्रद्धा के बल पर मोक्ष को पा लिया उसी प्रकार हम भी उस निःशंकित सम्यक्त्व के माध्यम से निज आत्म शक्ति का प्रकटीकरण कर लेंगे। इस निःशंकित अंग में प्रसिद्ध अंजन चोर की कथा इस प्रकार है -

अंजन नाम का एक चोर था। जो सदैव चोरी करने में ही लगा रहता था, कहा जाता है कि जिसके जीवन में एक बुराई आ जाती है तो उसका जीवन बुराईयों का घर ही बन जाता है। एक बार वह चोर किसी वेश्या के चंगुल में आ गया और उस पर आसक्त हो गया और इतना आसक्त हुआ कि किसी भी कीमत पर वेश्या को प्रशन्न रखना चाहता था परंतु वेश्या तो वेश्या रहती है उसका प्रेम किसी व्यक्ति पर नहीं अपितु धनसंपदा पर रहता है। एक बार वेश्या ने रानी के गले में एक हार देखा हार देखते ही उसकी नियत खराब हो गयी। वह मन में सोचती है वह हार मुझे कैसे प्राप्त हो, जब तक मुझे वह हार प्राप्त नहीं हो जाता तब तक मेरा जीवन बेकार है, जब मोह जगता है, आसक्ति जगती है, लोलुपता उत्पन्न होती है तो व्यक्ति कुछ भी करने तैय्यार हो जाता है। अब वह वेश्या बीमारी का बहाना बनाकर पलंग पर पड़ जाती है और उसी मौके पर अंजन चोर आता है तो वह उससे कुछ बोलती नहीं है। तब वह चोर उसे समझाता है, मनाता है, पूछता है प्रिये, क्या बात है क्या तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है या तुम्हे कोई कष्ट है या तुम्हे कुछ चाहिए? क्या

चाहिए बोलो तो सर्प के सिर से मुकुट उतारकर ला सकता हूँ जो व्यक्ति वेश्या में आसक्त होता है वह प्राणों की भी परवाह नहीं करता । अंजन चोर को अपने में आसक्त देख कर वह वेश्या कहती है मुझे तो रानी के गले में पड़ा हार ही चाहिए यदि तुम मुझे वह लाकर दे सकते हो तो ठीक है अन्यथा मैं समझूंगी तुम्हारा प्रेम सच्चा प्रेम नहीं । अंजन चोर उस वेश्या में इतना आसक्त था कि वह सब कुछ करने को तैयार था वह कहता है हाँ-हाँ रानी के गले में पड़ा हार लाना मेरे बाएँ हाथ का खेल है। वह अंजन चोर रानी के गले का हार लाने के लिए अपने शरीर पर एक लेप लगाता है, अंजन लेप, एक ऐसा लेप था जिसे लगा लेने पर वह दूसरों को दिखता नहीं था, अदृश्य हो जाता है । लेप शरीर पर लगाने के उपरांत वह राजमहल में पहुँचता है और रानी के गले से हार उतार लेता है, वह हार लेकर जा रहा था, लेप उसके शरीर पर था हार में नही जिससे वह हार चमक रहा था, कृष्ण पक्ष की रात्रि में चमकते हुए हार को देखकर सिपाही उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगते है । अपने पीछे सिपाहियों को आता देख वह अंजन चोर सोचता है अब मैं कहाँ जाऊँगा, मेरी मौत तो अब निश्चित है अतः वह दौड़ता हुआ श्मशान भूमि पर पहुँच जाता है जहाँ जिनदत्त सेठ के उपदेश से उसका एक भक्त आकाशगामिनी विद्या सिद्ध कर रहा था। उस विद्या को सिद्ध करने की विधि यह थी कि बहुत सारे अस्त्रों को जमीन में गाड़ दिया जाए और उनके ऊपर एक सींका लटका दिया जाए तथा उस प्रत्येक सीके में १०८ लड़े होना चाहिए और विद्या का साधक व्यक्ति एक-एक सीके पर बैठे और एक-एक बार णमोकार मंत्र पढ़ता हुआ एक-एक लड़ को काटता जाए जब पूरी लड़े कट जाएँगी तो विद्या सिद्ध हो जायेगी। जो भक्त विद्या सिद्ध करने की कोशिश में था वह डर के कारण कि कहीं विद्या सिद्ध न हुई तो इन अस्त्रो पर गिरकर मृत्यु हो जायेगी। यह सोचकर सींके से उतर जाता था परंतु फिर सोचता कि यदि विद्या सिद्ध हो गयी तो मेरा भविष्य सुधर जायेगा और वह सींके पर चढ़ जाता है इस प्रकार उसे बार-बार सींके पर उतरते-चढ़ते देख अंजन चोर उससे पूछता है भाई तुम क्या कर रहे हो । वह व्यक्ति उस अंजन चोर को अपनी सारी कहानी सुना देता है और विद्या सिद्धि का उपाय बता देता है और कहता है यदि मेरी चूक हो गयी तो प्राणों से हाथ धोना पड़ेगे इसलिए में विद्या को सिद्ध करने का साहस नहीं कर पा रहा हूँ। तब अंजन चोर कहता है - भाई यह मंत्र मुझे दे दो मै विद्या सिद्ध करने का प्रयत्न करता हूँ। वह सोचता है -जिनदत्त सेठ बहुत धार्मिक है उसके वचन सत्य ही होंगे तथा सिपाही मेरे पीछे पड़े हैं तो मृत्यु तो मेरी निश्चित ही है अतः मंत्र ही

सिद्ध कर लूं यह सोचकर विद्या सिद्ध करने हेतु मंत्र पूछता है वह व्यक्ति कहता है – तुम्हें पंचनमस्कार मंत्र का स्मरण करके एक-एक लड़ को काटते जाना है वह मंत्र है –

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं,
णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्व साहूणं ॥

मंत्र को वह सुन तो लेता है परंतु उसे याद नहीं हो पाया था पीछे सिपाही आ रहे थे अतः वह शीघ्रता से सींके पर चढ़ जाता है परंतु मंत्र विस्मृत हो गया अतः वह कहता है – आणं ताणं कछु न जाणं सेठ वचन परमाणं। वह यही मंत्र बोलता गया और एक-एक करके सारी लड़े काट डाली उसकी निःशंकित श्रद्धा के बल से मंत्र सही भी नहीं होने पर आकाशगामिनी विद्या आकर उसे झेल लेती है । वह मन ही मन सेठ जी का बहुत उपकार मानता है तथा विद्या के यह पूछने पर कि कहाँ चलना है तो वह बोला – पहले मुझे वहाँ ले चलो जहाँ मेरा उपकारी सेठ जिनदत्त विराजमान है, विद्या ने उसे अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना कराते हुए सेठ जी के पास पहुँचा दिया। सेठ ने पूछा तुम कौन हो व यहाँ कैसे आए हो तो अंजन चोर उन्हें सारी कहानी सुना देता है । अंजन जैसे चोर ने अपनी निःशंकित श्रद्धा के बल पर महान आकाशगामिनी विद्या को सिद्ध कर लिया, कहा भी गया है –

The firm faith is the seed of success.

अर्थात् दृढ़ विश्वास ही सफलता का बीज है ।

आगे वही अंजन चोर प्रत्युपकार की भावना से जिनदत्त सेठ के पास जाता है वहाँ उसे मुनिमहाराज के भी दर्शन होते हैं । मुनिराज के सद्धर्मामृत रुप उपदेश को सुनकर वह वैराग्य को प्राप्त हो जाता है तथा निर्ग्रंथ दीक्षा लेकर कठोर तपश्चरण में लीन होकर मोक्ष सुख को पा लेता है ।

बंधुओ ! निःशंकित श्रद्धा के बल से अंजन भी निरंजन बन गया । पतित, पावन बन गया। एक पापी भी परमेश्वर बन गया। अतः आप भी निःशंकित श्रद्धा को अपने जीवन में धारण करें और अपने आत्महित को प्रवृत्त हो जाए तथा उस महान अभ्युदय स्वरुप मुक्ति सुख को प्राप्त करें।

* * *

" निःकांक्षित भक्ति फलदायी "

१) जो सग्गसुह णिमित्तं धम्मं णायरदि इसहतवेहिं ।

मोक्खं समीहमाणो णिक्कंरवा जायदे तस्स ॥ ४१६ का.अ. ॥

दुर्धर तप के द्वारा मोक्ष की इच्छा करता हुआ जो प्राणी स्वर्ग सुख के लिए धर्म का आचरण नहीं करता है उसके निःकांक्षित पना होता है ।

२) तपश्चारित्र धर्मादि सर्वं कृत्वा समीहते ।

स्वर्ग ऋद्धियादिक यः स भस्मार्थ सद्वनं दहेत् ॥ २६९ सु.र. ॥

जो मनुष्य तप, चारित्र, धर्मादि सब कुछ करके भी यदि स्वर्ग, ऋद्धि आदि की इच्छा करता है तो मानो वह भस्म के लिए उत्तम वन को जलाता है ।

३) कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये ।

पापबीजे सुखे नास्थाऽश्रद्धाऽनाकाङ्क्षणा स्मृता ॥ १२ र.श्रा. ॥

कर्म के आधीन शारीरिक और मानसिक दुःखो से मिश्रित पाप के कारण इंद्रिय संबंधी सुखों में अनित्य रूप श्रद्धान करता अर्थात् इंद्रिय सुखों में आस्था नहीं रखना निःकांक्षित अंग है ।

४) किंपायफलं पक्कं विसमिस्सिद मोदगिंदवारूण सोहं ।

जिव्हसुखं दिट्ठिपिय जह जह जाणक्ख सोक्खं पि ॥१२७ र.सा. ॥

जैसे – किंपाक फल (पका हुआ), विषमिश्रित मोदक और इंद्रायण फल देखने में सुंदर होते है, जीभ को भी सुख देते है, दृष्टि को भी प्रिय लगते है किंतु परिणाम में दुःखदायी होते हैं । उसी प्रकार इंद्रिय सुख होते है जो तत्कालता में सुख देने वाले हैं परंतु उनका अंततः परिणाम दुःख दायी ही होता है ।

" नि:कांक्षित भक्ति फलदायी "

जिस मानव के पास पूर्व में किया पुण्योदय होता है । उस पुण्यशाली मानव के पास भयंकर वन भी विशाल व प्रधान नगर बन जाता है । तथा संपूर्ण लोक के प्राणी आत्मीयजन हो जाते है तथा समस्त पृथ्वी उसके लिए उत्तम निधि तथा रत्नों से परिपूर्ण हो जाती है, तथा पाप के उदय में कह-कहकर भी इच्छा पूर्ति नहीं होती, हाथ में आया सोना भी मिट्टटी हो जाता है ।

बुंधओं ! कल हमने सम्यग्दर्शन के प्रथम अंग नि:शंकित अंग के बारे में समझा । आज हम सम्यग्दर्शन की दूसरी पायरी नि:कांक्षित अंग को समझने का प्रयास करेंगे ।

नि:कांक्षित अंग वह अमूल्य रत्न है जिसके प्राप्त हो जाने पर तीनों लोकों का वैभव भी तुच्छ प्रतीत होता है यह अमृत की उस बूंद के समान है जो आत्मा रूपी पात्र में रखे हुए सम्यग्दर्शन रूपी पदार्थ को और अधिक मिष्ठ व गुणवान बना देता है । जबकि इसके विपरीत जो आकांक्षा है वह विष तुल्य है जो हमारे आत्मीय गुण सम्यग्दर्शन को मिथ्यात्व रूपी हलाहल विष में बदल देता है। कांक्षा का अर्थ है इच्छा, वांछा, कांक्षा, आशा आदि ये सब एकार्थवाची है और इससे रहित होना नि:कांक्षा है। कांक्षा पूर्वक की गई भक्ति स्वार्थ का प्रतीक है जबकि नि:कांक्षा सम्यक समर्पण का प्रतीक है । प्राय: व्यक्ति लौकिक प्रयोजनों को लेकर धर्म व त्याग आदि करते हैं परंतु श्रद्धालु सम्यग्दृष्टि जीव मात्र आत्म हित का प्रयोजन ध्येय में रखकर ही धर्म साधना करता है । उसे सिर्फ निज सुख मोक्ष के अलावा अन्य वांछा नहीं रहती ।

नि:कांक्षित अंग के विषय में आचार्य कार्तिकेय स्वामी ने अपने कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ में कहा है -

जो सग्गसुह णिमित्तं धम्मं णायरदि दूसहतवेहिं ।
मोक्खं समीहमाणो णिक्कंखा जायदे तस्स ।।४१६।। का.अ.

अर्थात् दुर्धर तप के द्वारा मोक्ष की इच्छा करता हुआ जो प्राणी स्वर्ग सुख के

लिए धर्म का आचरण नहीं करता है उसके नि:कांक्षित पना होता है ।

परंतु जो मनुष्य धर्माचरण से अपने उपक्रमों को पूरा करना चाहता है वह यदि मंदिर भी जाता है तो इसलिए कि मंदिर जाने से दुकान अच्छी चलती है, कमाई होती है और मंदिर न जाने से बौनी तक नहीं होती अत: ऐसे व्यक्तियों के लिए मंदिर, भगवान, धर्माचरण आदि मात्र कमाई के देवता है श्रद्धा के नहीं । वह दान भी देता है तो उसके पीछे यह स्वार्थ पूर्ण भावना छिपी रहती है कि- 'तू एक पैसा देगा वो दस लाख देगा' पर ध्यान रखना इससे आपको धन, मान-सम्मान आदि मिल जाए, पर बहुमूल्य सम्यग्दर्शन का नि:कांक्षित गुण प्राप्त नहीं हो सकेंगा, निष्काम भक्ति का पुनीत फल प्राप्त नहीं हो पायेगा । कांक्षा पूर्ण की गयी भक्ति असीमित फल को भी सीमित कर देती है कहा भी है- सुभाषित रत्नावली में कहा है -

तपश्चारित्र धर्मादि सर्वं कृत्वा समीहते ।
स्वर्गऋद्धियादिक य: स भस्मार्थं सद्वनं दहेत् ।।२६९।। सु.र.

अर्थात् जो मनुष्य तप, चारित्र, धर्मादि सब कुछ करके भी यदि स्वर्ग, ऋद्धि आदि की इच्छा करता है तो मानो वह भस्म के लिए उत्तम वन को जलाता है।

अत: कांक्षा पूर्ण की गई साधना मोक्ष मार्ग में प्रयोजन भूत नहीं है । वह साधना परमार्थ शून्य साधना कही जायेगी । इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि श्रावक के जप, तप, त्याग, स्वाध्याय, दान, वैय्यावृत्ति में कर्मों के क्षय का हेतु होता है। एक साधक भी अपने सभी दैनिक नित्य क्रियाओं को कर्म क्षय की भावना से करता है तथा प्रत्येक क्रिया की प्रतिज्ञा में अपने लक्ष्य को दुहराता रहता है-उदाहरण के लिए -

''अथ पूर्व रात्रिक स्वाध्याय प्रतिष्ठापन क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकल कर्म क्षयार्थं भाव पूजा वंदना स्तव समेत''

'सकल कर्म क्षयार्थं' अर्थात् हे भगवन् ! मैं जो स्वाध्याय कर रहा हूं उससे मेरे संपूर्ण कर्मो का क्षय हो, वह नि:स्वार्थ, निष्काम भक्ति करता है तभी साधना के समीचीन फल को प्राप्त कर पाता है । आचार्य समंतभद्र महाराज ने अपने रत्नकरण्डक श्रावकाचार ग्रंथ में नि:कांक्षित अंग की व्याख्या करते हुए कहा है -

कर्म परवशे सान्ते, दु:खैरन्तरितोदये ।
पाप बीजे सुखेऽनास्था, श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता ।।१२।। र.श्रा.

कांक्षा का अर्थ होता है इच्छा, वह इच्छा कैसी होती है तो पहला विशेषण दिया गाय-'कर्म परवशे' -संसार में जितने भी दु:ख है, इच्छाएँ है वे सभी कर्म की पराधीनता में ही, कर्माधीन है यदि पुण्य का उदय है तो पदार्थ सुख की अनुभूति कराता है परंतु पापोदय में वही पदार्थ दु:खदायी हो जाते है ।

एक चामरी गाय होती है उसे अपनी पूँछ पर बहुत अभिमान होता है जब बहेरिया पूँछ काट देता है तो वह उसी पूँछ के कारण दु:खी होती है । पुण्य के उदय में जो पदार्थ अच्छे लगते है पाप के उदय में वे ही दु:खदायी हो जाते है हालाकि पाप के उदय में ही इच्छाएँ होती है क्योंकि जब व्यक्ति का पुण्य का उदय होता है तो इच्छा नहीं होने पर भी अनुकूल सामग्रियॉ मिल जाती है पानी बरस रहा है और बिना बोले ही व्यक्ति छाता लेकर आ गये । बैठना है और बिना कहे ही आपके लिए पाटे की व्यवस्था हो गयी, तकलीफ हुई और सहजता में ही दवा की व्यवस्था हो गई कहने का तात्पर्य है कि जब व्यक्ति का विशेष पुण्योदय होता है तो आकांक्षा प्रकट नहीं करनी पड़ती, इच्छा प्रकट नहीं करनी पड़ती और पूर्ति हो जाती है । वहीं पाप कर्मोदय में व्यक्ति इच्छा पर इच्छा करता है, कहता है परंतु कह-कह करके भी पूर्ति नहीं हो पाती। इच्छाएँ तो बहुत होती है कि चक्रवर्ती का पद मिल जाए परंतु बिना पुण्य के कुछ नहीं मिलता ।

ज्ञानी और अज्ञानी में अंतर होता है, अज्ञानी इच्छा कर करके परेशान है और ज्ञानी इच्छा न करके भी सु:खी है। ज्ञानी जीव इच्छाओं से दूर रहते है और अज्ञानी निरंतर इच्छाओं में ही डूबा रहता है तथा इच्छाओं के ही कारण संसार में भटकता रहता है । अज्ञानी जीवन के दिन व्यर्थ में काटता है, जी नहीं पाता है, क्योंकि-

चिता दहती निर्जीव को, चिंता दहती सजीव को

चिता तो निर्जीव व्यक्ति को जलाती है पर चिंता तो सजीव को जला देती है, मात्र एक अनुस्वार से कितना बड़ा अंतर आ जाता है व्यक्ति के पास सब कुछ है परंतु वह यदि कांक्षा में जी रहा है तो वह जीवन का आनंद, स्वाद, रूचि नहीं ले पाता है ।

पाप कर्म के उदय में जो इच्छाएँ की जाती है वे कभी पूरी नहीं होती । आप चाहे जितना सोचते रहे परंतु सफलता भाग्य से मिलती है जब पुण्य कर्म का उदय होता है तो जंगल में भी मंगल हो जाता है, मिट्टी भी सोना बन जाती है तथा शत्रु भी मित्र बन जाता है परंतु पाप कर्म उदय में सब विपरीत होता है पापकर्म के उदय में असफलता ही प्राप्त होती है । तथा पुण्य के उदय में लक्ष्मी को ठुकराने पर भी वह पीछा नहीं छोड़ती ।

एक बार ऐसा ही हुआ एक अद्‌भुत बाबा था वह बड़ा ही निस्पृही था, कुटिया में अकेला ही रहता था । अर्ध निशा में ऊपर से आवाज आई । 'मैं आती हूं' । बाबा बोला "तू कौन है ?" वह बोली-"मैं लक्ष्मी हूँ", आपकी कुटिया में निवास करना चाहती हूँ।" बाबा-बोला मुझे जरूरत नहीं है, मैं त्यागी हूँ लक्ष्मी का क्या करूँगा । लक्ष्मी बोली-जो इच्छा करते है मैं उनके पास नहीं जाती हूं और जो मुझे पीठ दिखा देते है वहाँ अवश्य जाती हूँ । बाबा बोला-जैसी आपकी इच्छा कुटिया में चारों ओर सुवर्ण मुद्रा ही सुवर्ण मुद्रा हो गयी, कोई भी मांगने आता तो बाबा उसे यथेष्ट मुद्रा देकर संतुष्टकर

देता था । सारे शहर में यह बात फैल गयी कि बाबा के चरणों में तो नव निधि और अष्ट सिद्धि है । अनेकों व्यक्तियों का ताता जुड़ा रहता, मुंहमागे सुवर्ण मुद्रा मिलने लगी ।

बाबा ने सोचा-"बड़ी व्याधि लग गई । जब माला जपने बैठता हूँ तो माँगने वाले तैयार रहते है । न खाने का समय मिलता है न ही नींद लेने का, कैसे होगा इस लक्ष्मी से छुटकारा ।"

बंधुओं ! इसे ही कहते है पुण्य का उदय । जब पुण्य का उदय होता है तो इच्छा न होने पर भी धन की वर्षा होती है ।

गाँव के ठाकुर साहब को कुछ धनराशि की आवश्यकता थी । तब बाबा से परिचित एक व्यक्ति ने कहा - ठाकुर साहब ! गांव के बाहर एक बाबा रहता है, उसके पास इतना वैभव है कि कभी समाप्त ही नहीं होता, वह माँगने वालों को खुले हाथ देता है। ज्यों-ज्यों देता है, त्यों-त्यों लक्ष्मी बढ़ती जाती है। आप भी किसी कर्मचारी को भेजिए। यथेच्छित सुवर्ण मुद्राएँ मिल जायेंगी। ऐसी बातें सुनते ही ठाकुर साहब आश्चर्य के सागर में डूब गये। उन्होंने विशिष्ट कर्मचारी को प्रेषित करते हुए कहा - तुम जाओ और बाबा जी से यथेच्छित सुवर्ण मुद्राएँ लेकर आओ।

कुछ ही समय के पश्चात् पुनः देववाणी हुई बाबा ! अब मैं जा रही हूँ। बाबा बोला- जैसी तुम्हारी इच्छा । जहाँ जाना चाहती हो वहाँ जा सकती हो। क्योंकि तुम्हारा नाम ही चंचला है, एक जगह स्थिर रहने का सवाल ही नहीं है। लक्ष्मी चली गई, बाबा खुश हुआ एक उपाधि मिटी।

सुबह होते ही ठाकुर साहब का कर्मचारी पहूँचा उसने याचना की-महात्मा जी! आपके पास सब कुछ है आप ठाकुर साहब की अभिलाषा पूर्ण करें। बाबा बोला- आप देरी से पहुँचे। कल आते तो कुछ ना कुछ अवश्य मिल जाता। आखिर में ठाकुर साहब भी वहाँ आये, बाबा ने सारी कहानी सुना दी। और बोले-देखो यह सब पुण्य व पाप का खेल है पुण्य के उदय में अनायास ही न चाहने पर भी लक्ष्मी डेरा जमा लेती है और पाप के उदय में आते ही वापस चली जाती। इस संसार की संपूर्ण वस्तुएँ कर्म की पराधीनता में ही है। कहा भी है

भीमं वनंतस्य पुरं प्रधानं।
सर्वो जनः सुजनता मुपयाति तस्य ।।
कृत्स्ना च भू र्भवति सन्निधि रत्नपूर्ण।
यस्यास्ति पूर्व सुकृतं विपुलं नरक्य ।।

अर्थात् जिस मानव के पास पूर्व पर्याय में किया हुआ विशाल पुण्योदय होता है उस पुण्यशाली मानव के पास भयंकर वन भी विशाल और प्रधान नगर बन जाता है।

तथा संपूर्ण लोक के प्राणी आत्मीय जन हो जाते हैं और समस्त पृथ्वी उसके लिए उत्तम निधि तथा रत्नों से परिपूर्ण हो जाती है। और पापोदय में कह-कह कर भी इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती। हाथ में आया सोना भी मिट्टी हो जाता है।

अतः तुम धन की इच्छा को छोड़ो। क्योंकि जो व्यक्ति अपने मन में धन पाने की आकांक्षा रखता है धन संपदा/ लक्ष्मी उससे कोसों दूर चली जाती है तथा जो व्यक्ति निःकांक्षित भाव रखता है लक्ष्मी उसके पीछे-पीछे दौड़ती है अतः इच्छाओं के दास बनने में लाभ नहीं अपितु इच्छाओं को अपना दास बनाकर रखने में लाभ है। अगला विशेषण देते हुए आचार्य महाराज कह रहे है कि यह आकांक्षा 'सान्ते' यानि अंत से सहित है।

'सान्ते'-बंधुओं ! यह इंद्रिय विषयों की आकांक्षा तो जल के बुलबुले की तरह अंत से सहित है अर्थात क्षणभंगुर है शाश्वत नहीं। क्योंकि यह संसार की क्षणभंगुरता की अंतता का परिचायक है जैसे रहट के घड़े को एक ओर से भरते है तो दूसरी ओर से खाली होता जाता है।

व्यक्ति सोचता है भोजन कर लूंगा तो क्षुधा शांत हो जायेगी परंतु सुबह खाया और शाम को खाली। विषयाकांक्षा अग्नि की ज्वालाओं की तरह व्यक्ति की आशाओं को शांत नहीं होने देती अपितु बढ़ाती है। संताप उत्पन्न करती है तथा इस विषयाकांक्षा की परंपरा निरंतर चलती रहती है एक पूरी हुई नहीं कि दूसरी सामने आकर खड़ी हो जाती है।

अतः यदि आशा आकांक्षा करना ही है तो भगवान से प्रार्थना करो कि हे भगवन् !

णिच्चकालं अच्चेमि, पूज्जेमि, वंदामि णमस्सामि, दुक्खक्खओ कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगइ गमणं, समाहि मरणं जिण गुण संपत्ति होऊ मज्झं।

एक सच्चा मुनिजनो की तरह अहर्निश प्रत्येक पारमार्थिक क्रियाओं का फल पारमार्थिक ही चाहता है लौकिक नहीं। वह निरंतर शाश्वत आत्म हित के लिए, कर्म क्षय के लिए, दुःखों के नाश के लिए मोक्षमार्ग में प्रयोजन भूत ही फल चाहता है। क्योंकि उसे विश्वास होता है कि -

यत्र भावः शिवं दत्ते द्योः कियद् दूरवर्तिनी ।। इष्टोपदेश ।। ४

अर्थात् भगवान की पूजा पाठ व ध्यान करने रुप जिन भावों से मोक्ष प्राप्त हो सकता है क्या उनसे स्वर्गादि का सुख नहीं मिलेगा अपितु अवश्य मिलेगा। भगवान के दोंनो पाद युगल कामदुहि, कामधेनु हैं वे सब देतें है परंतु उसे जो नहीं माँगता है। वह सच्चा भक्त भिखारी नहीं अपितु भक्त बनकर ही पूजा अर्चना करता है। कहा भी है-

जो पूजे जिनदेव को निश दिन मन वच काय।
दूर हो विपदा सुख मिले वो भी बिना मंगाय।।
इंद्रिय सुख की आशा से रहते हैं वो दूर।
क्षणभंगुर नहीं शाश्वत सुख चाहें भरपूर।।

अगला विशेषण देते हुए आचार्य महाराज कह रहे है कि वह विषयाकांक्षा 'दुःख अंतरित 'अर्थात् दुःखों से मिश्रित है अर्थात् दुःख देने वाले है हम सोचते है कि यह भोजन सुखदायक है, हमें पसंदीदा वस्तु में सुख अनुभव होता है और यदि वही आवश्यकता से अधिक खा लिया जाए तो अपच हो जाता है, बीमारी हो जाती है। अब वह घबराकर नहीं खाता। पहले उसी वस्तु में सुख था अब उसी में दुःख है। इसी प्रकार बीड़ी-तम्बाकू के साथ व्यक्ति पढ़कर भी, कि यह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है फिर भी लाचार बना रहता है और फिर कैंसर, दमा, टी.बी. के शिकार हो जाते है। अर्थात् जो वस्तु आज सुखदायक लग रही है वही भविष्य में दुःखदायक हो जाती है जैसे -

किंपाकफलं पक्कं विसमिस्सिद मोदगिंदवारुण सोहं।
जिव्ह सुहं दिट्ठिपियं जह तह जाणक्ख सोक्खंपि।।१२७।। रयणसार

जैसा-पका हुआ किंपाक फल, विष मिश्रित मोदक और इन्द्रायण फल देखने में सुंदर होते है, जीभ को भी सुख देते है, दृष्टि को भी प्रिय लगते है किंतु परिणाम में दुःखदायी होते है उसी प्रकार इंद्रिय सुख होते है जैसे-जब हमें गर्मी लगती है तो हम पंखा चला लेते है परंतु वही पंखा यदि कोई व्यक्ति कड़ाके की ठंड में चला दे तो कष्टदायी मालूम पड़ता है।

इस प्रकार इस दुःख मिश्रित सुख की चाह न करके जो व्यक्ति सम्यग्ज्ञान रुपी नौका का सहारा लेता है वह भव पार हो जाता है। अरहनाथ भगवान की स्तुति करते हुए आचार्य समंतभद्र महाराज ने अपने स्वयंभूस्तोत्र में कहा है-

आयव्यां च तदात्वे च दुःख योनिर्दुरुत्तरा।
तृष्णादी त्वयोत्तीर्णा विद्यानावा विविक्तया।।

अर्थात् इहलोक व परलोक में दुःखों की उत्पत्ति का कारण जानकर जिसका पार करना अत्यंत कठिन है ऐसी तृष्णा (आकांक्षा) रुपी नदी को निर्दोष विद्या अर्थात् सम्यग्ज्ञान रुपी नौका के द्वारा पार किया है।

अतः इच्छाओं को जीतने का सरल उपाय सम्यग्ज्ञान है। इसलिए निःकांक्षित अंग से परिपूर्ण सम्यग्दृष्टि का प्रत्येक कदम ज्ञानपूर्वक ही रहता है और वह दुःख मिश्रित सुख की चाह नहीं करता। अगला विशेषण देते हुए आचार्य महाराज ने कहा है

यह विषयाभिलाषा पाप का बीज है।

Seed of sin is longing forworldly A pleasure

'पाप बीजे' अर्थात् सांसारिक सुखों की अभिलाषा पाप का बीज है, कहा भी गया है- व्यक्ति पहले इंद्रिय विषयों की आशा रखता है और पूर्ति न होने पर क्रोध व मायाचारी करता है है तथा प्राप्त होनेपर मान व लोभ करता है तथा कषायों से प्रेरित व्यक्ति प्रायः धन प्राप्ति की इच्छा से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह आदि पाप रुपी विशाल वृक्ष को वृद्धिगंत कर लेता है।

परमात्म प्रकाश में आचार्य योगीन्द्र देव ने कहा है- जिस पुण्य से वैभव प्राप्त होता हो एवं पापों के प्रति लिप्सा जाग्रत होती हो ऐसा पुण्य मुझे नहीं चाहिए। जिस धन दौलत से धर्म छूट गया तो वह तुम्हे गड्ढ़े में पटकेगी।

धन दौलत की आकांक्षा से पाप का ही बंध होता है। व्यक्ति धन चाहता है ताकि मकान बना सके, चिकना फर्श व मार्बल लगा सके, तो ये स्पर्शन इंद्रिय का विषय है व्यक्ति सोचता है रंगरौगन करवायेंगे तो यह चक्षु इंद्रिय का विषय है, वह सोचता है घर में अच्छे व्यंजन खायेगे तो यह रसना इंद्रिय का विषय है इस प्रकार कांक्षा करने में पांचो पाप समाविष्ट हो गए इसलिए आकांक्षा न करना ही श्रेष्ठ है।

जब हम इच्छा रहित क्रिया करते है किसी भी प्रकार की आकांक्षा के बिना कोई क्रिया करते है तो वह अनेक गुना फलदायी होता है यदि इच्छा सहित क्रिया हो तो कार्य पूरा अवश्य होगा परंतु वह इच्छा रहित क्रिया की अपेक्षा कम फल प्रदान करेगी। व्यक्ति निःकांक्षित अंग के पालन से इहलोक व परलोक उभय लोक में सुखी बनता है।

पाप व दुःख रुपी गड्ढ़े में गिराने वाली उस आकांक्षा में सम्यग्दृष्टि जीव रुचि नहीं रखता है वह तो उन प्राप्त सांसारिक सुखों में आस्था नहीं अपितु उससे विरक्ति रखता है।

निःकांक्षित गुण से सहित निर्मल सम्यग्दृष्टि मनुष्य कैसी भी प्रतिकूल परिस्थिति में क्यों न हो, चाहे उसकी पूर्ति करने स्वयं देवता भी क्यों न आ जाए तो भी लौकिक शारीरिक सुखों की कांक्षा नहीं करता है।

सनतकुमार चक्रवर्ती के विषय में शास्त्रों में उल्लेख मिलता है कि दीक्षा ग्रहण करने के उपरान्त उन्हें भयंकर बीमारी हो गई। परंतु उनकी समता व सहनशीलता इतनी अधिक थी की जिसकी प्रशंसा मात्र मध्यलोक में ही नहीं अपितु स्वर्ग के देवों के मध्य भी होती थी। एक बार स्वर्गो में चर्चा चल रही थी कि वर्तमान में भूतल पर एक ऐसे महामुनिराज अपनी धर्मसाधना में तल्लीन है जो समस्त प्रकार की आकांक्षाओं से रहित है भयंकर बीमारी होनेपर भी समता से सहते हुए साधना रत है। रोग के प्रतिकार की क्षमता

होते हुए भी प्रतिकार नहीं करते। उस प्रशंसा को सुनकर एक देव ने उन महामुनि की परीक्षा करने हेतु वैद्य का रुप बनाया और औषधि की बड़ी-बड़ी पोटलियाँ कंधे पर टांग कर मुनिराज के चारों ओर घूमने लगा और जोर-जोर से बोलने लगा - मेरे पास हर रोग का शर्तीयाँ इलाज है मैं भयानक से भयानक रोग को भी क्षण भर में ठीक कर देता हूँ। परंतु वे मुनिराज तो अपने ध्यान में आरुढ़ थे तथा ध्यान रुपी परमौषधी से कर्म रुपी व्याधियों के शमन में लगे थे। जब महाराज का ध्यान विसर्जन हुआ तो वह वैद्य बोला - महाराज आप मुझे रोग बताए मैं सारे रोगों का इलाज कर सकता हूँ। महाराज कहते है- ठीक बात है। मैं भयंकर तीन रोगों से पीड़ित हूँ वे तीन रोग इस प्रकार है- जन्म, जरा व मृत्यु मुझे शीघ्र इन रोगों का इलाज बताकर स्वस्थ करो। महाराज के मुख से रोगोंका नाम सुनकर वैद्य जी के कान खडे हो जाते है। वह मुनिराज के चरणों में नतमस्तक होकर अपने असली रुप में आ जाता है और कहता है, हे महामुनिश्वर ! इन रोगों का शमन करने में तो आप जैसे धीर वीर साधक ही समर्थ है, मैं तो आपकी निःकांक्षित साधना को देखकर आश्चर्य चकित हूँ। जब वे महामुनि कहते है हे देव ! इस शरीर पुद्‌गल के तो १-१ अंगुल में ९६वें -९६ वे रोग है तथा संपूर्ण शरीर में ५ करोड़, ६८ लाख, ९९ हजार ५८४ रोग है एक रोग ठीक हो नहीं पाता कि दूसरा तैयार रहता है अतः इस जड़ के रोगों को दूर करने से क्या लाभ यह शरीर तो दुःखों की खानि है नाशवान है अतः शरीर के नहीं आत्मा के रोग को दूर करने वाला ही धीमान है वह देव- उन मुनिराज की निष्पृहता व निःकांक्षित साधना से प्रभावित हो बारंबार नमस्कार करके, स्तुति, पूजा करके स्वर्ग चला गया। मुनियों की निःकांक्षित साधना को देखकर कवि कहता है -

ऐसे परम दिगंबर मुनिवर, मन में राग न द्वेष।
आकांक्षाए लेश मात्र भी, नहीं रही अब शेष।।
महाराजाओं के महाराजा, धन्य वही होते।
इनकी स्तुति करनेवाले, निज अघ को धोते।।

अतः संसार में विषयों की आशा से दूर वीतरागी मुनिजन ही परम सुखी हैं क्योंकि निर्धन मनुष्य, धन की आशा करता है इसलिए दुःखी है तथा धनवान तृष्णा के कारण महादुःखी है। प्रायः प्रत्येक प्राणी दुःखी है वे मुनिजन ऐसा विचार कर 'पराधीन मुनिवर की चर्या' इस सूक्ति को चरितार्थ करते है क्योंकि पराधीन सुख से उन्हें स्वाधीन सुख ही श्रेष्ठ लगता है। इसीलिए वे परम सुखी है कहा भी है-

चाह गई चिंता मिटी, मनुवा वे परवाह।
जिन्हें कुछ नहीं चाहिए वे शाहन के शाह।।

अतः बंधुओं ! धर्म साधना हो या लौकिक कार्य आकांक्षा न करें तभी वह

पारमार्थिक असीम फल देगी जबकि आकांक्षा फल की अनियमितता को सीमित कर देती है जैसे किसी को उसकी कार्य-कुशलता के कारण उसके मालिक ने ५०० रुपये देना चाहा था परंतु व्यक्ति कह दे कि मैनें इतना काम किया मुझे ३०० रुपये मिलना चाहिए तो फिर उसका मालिक ५०० के स्थान पर ३०० रुपये ही देता है। उसी प्रकार व्यक्ति त्रिलोकी नाथ के पास जाकर अपनी निर्मल पूजा व भक्ति भाव के फलस्वरुप मोक्ष सुख न मांग कर विषय सुख मांगता है तो वह निश्चय मूढ़ है। उसने रत्नों की पोटली को काँच की चाहत में छोड़ दिया। असीमित से सीमित फल मिला अतः बंधुओं ! हमें जीवन में निःकांक्षित भाव से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की आराधना एवं पूजा अनंतमती की तरह करना चाहिए। अनंतमती के विषय में एक कथा प्रचलित है जो इस प्रकार है -

अनंतमती एक श्रेष्ठी पुत्री थी एक बार वह अपने माता-पिता के साथ अष्टान्हिका पर्व में धर्मकीर्ति मुनिमहाराज के पास गयी। उनके पास जाकर उसके पिता धर्मनिष्ठ प्रियदत्त सेठ तथा माता अंगवती सेठानी ने धर्मकीर्ति महाराज से अष्टान्हिका पर्व में ८ दिन का ब्रह्मचर्य व्रत लिया। तथा कहा कि - हे भगवन् ! मैं अपने व्रत का निर्दोष पालन कर सकूँ ऐसा आशीर्वाद दीजिए। महाराज प्रसन्न मन से आशीर्वाद देते है क्यों कि साधुजन धर्म, व्रत, साधना स्वयं करते है और यदि इस मार्ग पर चलने का कोई प्रयास करता है तो उन्हे बड़ी प्रसन्नता होती है। अनंतमति भी पिता जी से जिद् करती है कि मैं भी ब्रह्मचर्य व्रत लूँगी और महाराज उसे भी व्रत देते है। सेठ जी अपनी उस पुत्री का लालन, पालन करते है तथा अच्छी धार्मिक शिक्षण भी दिलाते है। जब वह पुत्री यौवन अवस्था को प्राप्त हो जाती है तो माता-पिता को उसके विवाह कि चिंता होती है। एक दिन घर में शादी की तैयारी चल रही थी बेटी पूछती है माँ यह क्या हो रहा है उत्तर मिलता है तुम्हारी शादी की तैयारियाँ चल रही है। वह अपने पिता जी से पूछती है- पिताजी, क्या ब्रह्मचर्य व्रत धारी की शादी हो सकती है ? पिता जी- कब लिया तूने ब्रह्मचर्य। पिताजी, याद किजिए अष्टान्हिका पर्व के अवसर पर जब मैं ८ वर्ष की थी जब धर्मकीर्ति महाराज ने दिया था। पिता जी कहते है- वह तो मात्र ८ दिन के लिए था। नहीं पिताजी, व्रत की सीमा की कोई बात नहीं आयी अतः मैंने तो आजीवन के लिए लिया था। बेटी, तुम्हारी जिद् पर मैंने हँसी में हाँ कर दी थी, यथार्थ में तुझे मैंने व्रत नहीं दिलाया। वह अनंतमति कहती है पिता जी, धर्म में हँसी नहीं होती अन्यथा वह खेलकूद हो जाएगा अतः मैने जो व्रत लिया है उसका प्राणपन से पालन करुँगी, मैं प्राण छोड सकती हूँ पर नियम नहीं। क्या आप व्रत तुड़वाकर मुझे भव-भव में भटकाना चाहते है आदि-आदि बेटी की दृढ़ता भरी बातें सुनकर पिता जी को झुकना ही पड़ा कहा भी गया है -

"Everyone gets defeat before will power"

अर्थात् दृढ़ संकल्प के आगे सभी हर जाते है।

बंधुओ ! कर्मो की लीला बड़ी न्यारी होती है एक दिन अनंतमति बगीचे में झूला झूल रही था कि अचानक एक विद्याधर की दृष्टि अनंतमति पर पड़ती है । वह उसके रुप सौंदर्य पर मुग्ध हो जाता है। तथा काम के वशीभूत ही उसे वहाँसे हर ले जाता है परंतु पीछे से आ रही अपनी विद्याधरी के भय से वह अनंतमति को एक वियावान जंगल में छोड़ देता है। जंगल में भी एक भील उसके साथ कुचेष्टा करने का प्रयास करता है परंतु अनंतमति के पुण्य प्रताप से कुछ नहीं कर पाता। वनदेवी आकर उसकी रक्षा करती है। वह भील उसे एक सेठ के लिए दे देता है, सेठ उसे वेश्या के चंगुल में पहुँचा देता है तथा वेश्या उसे राजा को दे देती है।

बंधुओ ! एक के बाद एक विपत्तियों का पहाड़ टूटता गया सभी अनंतमति के रुप सौंदर्य पर मुग्ध हुए सभी ने उसे कई प्रकार के प्रलोभन दिये परंतु वह अपने व्रत में दृढ़ रही। कहते है जिसका कोई नहीं होता उसका भगवान होता है। राजा भी उसके साथ कुचेष्टा करना चाहता है परंतु देव आकर उसके शील की रक्षा करते है तथा पुण्योदय से उसे आर्यिकाओं का सत्संग प्राप्त हो जाता है। तथा वह श्राविका के व्रत पालती हुई रहने लगती है एक बार वह किसी श्रावक के घर रंगोली से चौक पूरती है योगायोग वह उसके मामा का ही घर था परंतु वह अपने मामा को नहीं पहचानती थी। परंतु एक दिन अचानक उसके पिता जी वहाँ आते है जब वे उस चौक को देखते है तो उन्हे अपनी बिटियाँ अनंतमति का स्मरण हो आता है और आँखे अश्रुपूरित हो जाती है। वे कहते है यह चौक किसने पूरा तथा उसका साला कहता है- यह तो आर्यिका संघ की एक ब्रह्मचारिणी दीदी ने बनाया है। उसे बुलवाया जाता है। जैसे ही वे सेठ जी अपनी पुत्री को देखते उनका हृदय पुत्री के प्रेम से विह्वल हो उठता है और वे अनंतमति को हृदय से लगा लेते है तथा घर वापस चलने का आग्रह करते है। परंतु अनंतमति स्वयं पर घटी सारी घटना पिता जी को सुनाती है और कहती है पिता जी इस संसार में भी सार नहीं है मैंने संसार को अच्छी तरह जान लिया है। क्या अग्नि में कोई जानकर पैर रखता है, नहीं। अतः मैं संसार के प्रपंचों से छूटकर आर्यिका व्रतों को धारण कर इस स्त्री पर्याय का छेद कर मोक्ष को पाऊँगी।

अतः बंधुओ ! हमें भी अनंतमति की तरह इच्छाओं को मोक्ष की सिद्धि के लिए छोड़ देना चाहिए। तथा निःकांक्षित अंग से सहित शुद्ध सम्यग्दर्शन कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिंतामणि रत्न, दिव्य रसायन तथा पारसमणि की तरह सभी अनिच्छित सुखों को देनेवाला है। तथा सच्चा आत्महित करने वाला है।

* * *

" निर्विचिकित्सा अंग से करो आत्म चिकित्सा "

१) स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते ।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ।। १३ र.श्रा.।।

- स्वरुप से अपवित्र किंतु रत्नत्रय से पवित्र शरीर में ग्लानि रहित होकर गुणो में प्रेम करना निर्विचिकिसा अंग कहलाता है।

२) यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम्।।१९ इष्टो.।।

- शरीर के उपकार से आत्मा का अपकार तथा आत्मा के उपकार से शरीर का अपकार होता है।

३) विधाय साधु लोकस्य तिरस्कारं जना महत् ।
दुःखमत्र प्रपद्यन्ते तिर्यंच नरकेषु च ।।१५ ग्र. १३ स.पद्मपुराण ।।

- जो ग्लानि से प्रेरित होकर मुनिजनों का तिरस्कार व अपमान करता है उसे तिर्यंच और नरक गति में महान दुःख को भोगना पडता है।

४) दहति दुरित कक्षं कर्म बंध लुनीते वितरति यम सिद्धिं
भावशुद्धिंतनोति।
नयति जननतीरं ज्ञानराज्यं च दत्ते, ध्रुव मिह मुनजानां वृद्ध सेवैव
साध्वी।। ग.-४० स.१५ ज्ञाना.।।

- उत्तम सेवा पाप रुपी वन को दग्ध करती है, कर्म के बंधों को काटती है, चारित्र की सिद्धि कराती है तथा भावों की शुद्धता का विस्तार करके संसार से पारकर ज्ञानराज्य केवलज्ञान को देती है और सब दोषों का विलय करती है।

५) रसरुहिर मंस मेदट्ठी, मज्ज संकुलं मुत्तपूय किमिबहुलं।
दुग्गंधंसुचि चम्ममय, मणिच्चमचेयणं पडणं।।४९ वा.अ.।।

- यह शरीर रस, रुधिर, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा आदि सप्त धातु से व्याप्त है, मूत्र, पीव और कृमियों की इसमें बहुलता है अतः यह अपवित्र दुर्गंधित चर्ममय अस्थिर, अचेतन व नाशवान है।

" निर्विचिकित्सा अंग से करो आत्म चिकित्सा "

* *स्वभाव से अशुचि अपितु रत्नत्रय से पवित्र मुनिराजों के मल सहित शरीर को देखकर उससे घृणा, ग्लानि नहीं करना अपितु उनके गुणों में प्रीति करना*
* *निर्विचिकित्सा गुण के धारी साधक निरंतर आत्म विशुद्धि, चारित्र की निर्मलता, भावों की विशुद्धि व संयम की वृद्धि कर विशेष शक्ति के धारी होते है।*
* *निर्विचिकित्सा के अभाव में ही वैमनस्यताएँ, विसंवाद, झगड़े, द्वेष, घृणा, बुराईयाँ आदि उत्पन्न होती है।*

भव्य बंधुओं ! अभी तक हम निःकांक्षित गुण को समझ रहे थे अब हम सम्यग्दर्शन के तीसरे अंग निर्विचिकित्सा अंग को समझेंगे।

निर्विचिकित्सा का व्युत्पत्ति अर्थ देखें तो न विचिकित्सा इति निर्विचिकित्सा, विचिकित्सा अर्थात् ग्लानि, घृणा, द्वेष। जहाँ पर विचिकित्सा यानि ग्लानि नहीं होती है वह निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है।

निर्विचिकित्सा अंग यानि हमारी अंतरंग भावना में परमार्थ भूत सच्चे देव,शास्त्र व गुरु के प्रति किसी भी प्रकार की जुगुप्सा न हो। मात्र उनके गुण ही दिखे। वृद्ध द्रव्य संग्रह की टीका में कहा गया है कि भेदाभेद रत्नत्रय के आधारक भव्य जीवों के दुर्गंध युक्त एवं वीभत्स शरीर आदि को देखकर धर्मबुद्धि से अथवा करुणाभाव से उनकी यथायोग्य सेवा करना, उनसे ग्लानि नहीं करना ही निर्विचिकित्सा है।

निर्विचिकित्सा के अभाव में ही वैमनस्यताएँ, विसंवाद, झगड़े, द्वेष, घृणा, ग्लानि, बुराईयाँ आदि उत्पन्न होती है।

धर्मात्मा के शरीर को देखकर ग्लानि करना सबसे बड़ा अपराध है। धर्मात्मा से घृणा करना यानि धर्म से घृणा करना, धर्मात्मा से जुगुप्सा करना आत्म स्वभाव की हत्या करना है। धर्मात्मा से ग्लानि करना सुख, शांति से ग्लानि करना है। यदि घृणा करना ही है तो अपने अपराध से करो, स्वयं में निहित बुराईयों से करो। अपनी बुराईयों पर ग्लानि

करना ही धर्मात्मा की निशानी है। धर्मात्मा की दृष्टि धर्म पर एवं अधर्मी की बुराईयों पर होती है।

जो किसी धर्मात्मा का तिरस्कार करता है वह स्वयं को ही तिरस्कृत करता है ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि दूसरे का तिरस्कार करने वाला क्रोध, मान आदि परभावों के वशीभूत होकर ही ऐसा कर रहा है अतः निज आत्म धर्म का ही विराधक हो जाता है। निर्विचिकित्सा सम्यग्दर्शन का एक महत्वशाली अंग है।

चिकित्सा जब भी होती है तो किसी रोग या बीमारी की होती है तथा रोग या बीमारियाँ दो प्रकार की होती है एक तो शारीरिक और दूसरी मानसिक।

बंधुओं ! आज का प्राणी शारीरिक बीमारी से इतना दूःखी नहीं है, जितना कि मानसिक बीमारी से दुःखी है। यदि डॉ.आप से कह दे कि आपको कैंसर या टी.बी.रोग की शंका है ये बीमारियाँ हो सकती है फिर तो यदि आपको ये बीमारियाँ न भी हो तो भी चिंताओं से ग्रसित होकर आपको रोग जकड़ लेगा और कभी-कभी तो व्यक्ति जीवन से भी हाथ धो बैठता है तथा भ्रांति जन्य बीमारी निकलते ही, व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है। इसी के इलाज के लिए मनोवैज्ञानिक चिकित्सा तैयार की गई । आचार्यों ने कहा है- 'शरीर बीमार हो सकता है परंतु आत्मा कभी बीमार नहीं होती'। मानसिक बीमारियाँ दूर करने का सरल उपाय है अंदर की ग्लानि को दूर कर दे। जब तक अंदर से ग्लानि नहीं निकलेगी तब तक मानसिक रोग का इलाज संभव नहीं है। ग्लानि निर्विचिकित्सा के अभाव में ही होती है परंतु जो साधक जीवन में निर्विचिकित्सा अंग को धारण करता है वह निरंतर आत्म विशुद्धि, चारित्र की निर्मलता, भावों की विशुद्धि तथा संयम की वृद्धि कर विशेष वीर्य का धारक होता है तथा निर्विचिकित्सा अंग का धारक साधक ही दूसरों की सेवा, वैय्यावृत्ति कर सकता है क्योंकि ग्लानि को जीते बिना वैय्यावृत्ति संभव नहीं है। यह अंग जिसके पास आ जाता है उसका जीवन गुणों से श्रृंगारित हो जाता है।

आचार्य समंतभद्र महाराज ने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ में निर्विचिकित्सा अंग का स्वरुप वर्णन करते हुए कहा है -

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुण प्रितिर्मता निर्विचिकित्सता।। १३।।

यहाँ पर आचार्य महाराज यह कह रहे हैं कि मुनिजन, गुरुजनों को देखकर ग्लानि का भाव तब उत्पन्न होता है जबकि दृष्टिकोण शरीर पर होता है, गुणों पर नहीं। शरीर तो शरीर है, अपवित्रता की खान है, इस शरीर में ऐसा क्या है जो पवित्र हो, अच्छा लगने वाला हो, नव मल द्वारों से निरंतर ग्लानि प्रद मल निकलता रहता है, इसके संसर्ग

से पवित्र वस्तुएँ भी अपवित्र हो जाती है इसके स्वभाव में उतरें तो यह शरीर तो स्वभाव से अशुचि ही है, मल का बीज, दुर्गंध और वीभत्सता ही जिसमें अहर्निश बनी रहती है इसको कितना भी पवित्र बनाने का प्रयत्न करो, स्नान कराओ, साबुन, क्रीम, पाउडर, शैम्पू लगा लों परंतु वह अपना स्वभाव नहीं छोड़ता उसी प्रकार है जैसे कोई कोयला को स्वच्छ करना चाहे संभव नहीं है क्योंकि कहा भी है -

'कोयला होय न ऊजरो सौ मन साबुन जायें।'

कोयले का स्वभाव ही काला है कितना भी पानी डालो, साबुन लगाओ। साबुन की ही बर्बादी होगी पर कोयला स्वच्छ नहीं होगा। इसी प्रकार शरीर का स्वभाव अपवित्रता है वह किसी साबुन से दूर नहीं होगी, जब व्यक्ति नहायेगा नहीं तो उसके शरीर से बदबू आना स्वाभाविक है कोई दातौन न करे तो मुख से बदबू आ सकती है परंतु आश्चर्य है की संयम की महिमा देखो मुनिराज कभी दाँत साफ नहीं करते। टूथपेस्ट नहीं करते फिर भी बदबू नहीं आती और आप एक दिन भी मंजन न करें तो बदबू आने लगती है। वे निर्ग्रंथ संत जन कभी स्नान भी नहीं करते, फिर भी उनके शरीर से बदबू नहीं आती वे संत मात्र शुद्धि के समय घुटने व कोहनी के नीचेतक पानी से शुद्धि करते है पूरे शरीरपर पानी नहीं डालते। ऐसी स्थिति में उनके शरीर पर मैल जमना संभव है, लोग वैय्यावृत्ति करने आते हैं तथा मैल को घिस-घिस कर बराबर कर जाते है परंतु ऐसे भी साधक है जो वैयावृत्ति नहीं कराते। पहले के साधु जंगलों में रहते थे तो वहाँ उनकी वैय्यावृत्ति करने वाला कोई नहीं था, अब ऐसे में पसीना आने पर धूल उड़ेगी और शरीर से चिपकेगी पर संत जन वैरागी होते है। आचार्य महाराज समंतभद्र स्वामी ने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ में कहा है- संसार शरीर भोग निर्विण्णः अर्थात् वे संत जन संसार, शरीर और भोगों से वैरागी, उदासीन होते है और अपना उपयोग निरंतर अपनी आत्मा पर रखते है शरीर के प्रति जब व्यक्ति का मोह रहता है तो वह उसी में अपना समय गंवाता है, स्नान करता है, श्रृंगार करता है, स्नो, पाउडर, क्रिम वगैरह पता नहीं क्या-क्या उपक्रम करता है। शरीर पर ही जिनका उपयोग निरंतर लगा रहता है वह मोही प्रेमी सदैव शरीर को ही निहारता रहता है उसकी ही सेवा मे तत्पर रहता है तथा दूसरे के वीभत्स शरीर को देखकर ग्लानि करता है।

इस विषय में तत्वज्ञानी राजा जनक की सभा का एक संदर्भ आता है। एक बार अष्टवक्र नामक ऋषी राजा जनक की सभा में पहुँचे जिनके शरीर के सभी अंग टेढ़े-मेढ़े थे, शरीर अत्यंत वीभत्स व ग्लानिजनक था, सभा में पहुँचते ही सभी सभासद उनके वीभत्स शरीर को देखकर हँसने लगे। तब उन सभासदों के बोध देने के लिए ऋषि अष्टवक्र बोले-

हम चमारों की सभा में कैसे आ गये। कथन का आशय पूछे जाने पर ऋषीराज ने स्पष्ट किया कि बात ठीक है जिसका ध्यान चर्म पर होता है वह चमार ही तो है।

शरीर के प्रति मूर्च्छा रखने वालों के प्रति सुंदर व्यंग प्रस्तुत किया गया है। चौबीसों घंटे आपका उपयोग शरीर पर रहता है, यदि आप जमीन पर बैठे है तो आपका उपयोग इसी में लगा रहेगा कि कहीं धूल न लग जाए, कहीं मेरा शरीर गंदा न हो जाए, मैल न लग जाए। कैसे मेरा शरीर पुष्ट हो, मैं क्या-क्या खाद्य सामग्री का उपयोग करु ताकि शरीर स्वस्थ व पुष्ट हो जाए, कैसे मेरा शरीर सुंदर दिखने लग जाए इसलिए स्नो, पाउडर, वॅक्सिंग, ब्लीचिंग, नेल पेंट, लिपिस्टिक आदि नाना सौंदर्य प्रसाधनों का उपयोग करते है। परंतु सत्य तो यह है कि इन सौंदर्य प्रसाधनों से शरीर सुंदर नहीं बनता अपितु क्षय को ही प्राप्त होता है, लंबे समय तक इनका उपयोग करते रहे तो शरीर सुंदर की जगह बदसूरत हो जाता है। परंतु संतो की स्थिति इससे भिन्न ही होती है। संतजन वैरागी होते हैं वे चिंतन करते है कि शरीर में उपयोग लगाने से व्यर्थ में समय जायेगा, मोह, राग-द्वेष उत्पन्न होंगे और हम आत्महित से वंचित रह जायेंगे। मुनिजन स्नान क्यों नहीं करते तो पहली बात यह है कि उनका अस्नान मूलगुण है। स्नान में अधिक पानी का आरम्भ सारंभ करना पड़ेगा फिर शरीर के कुछ अंग जैसे पीठ वगैरह का मार्जन या देखना नहीं हो पाता है और बिन देखे स्नान करेंगे तो जीव हिंसा होगी और मुनिजन जीव हिंसा के त्यागी होते है, तीसरी बात यह है कि जितने स्थान पर स्नान करेंगे उतने स्थान पर पानी भरेगा और जीव आकर उसमें खत्म होंगे वे संत जन 'जीव रक्षा' के महान उद्देश्य को लेकर चलते है वे सोचते है हम स्वयं कष्ट सहेंगे पर अन्य जीवों को कष्ट नहीं देंगे।

वे शरीर को श्मशान की धरोहर और जीव आत्मा को परमात्मा की धरोहर समझते है। उनके शरीर पर मैल की परते जमती है दुनियाँ को इसे देख ग्लानि हो सकती है परंतु ये संतो की विरक्ति का परिचय है - आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज जब कटनी आये थे उस समय हम वहाँ पढ़ते थे, अंजान थे तो हमने जब महाराज जी के शरीर पर मैल जमा देखा तो पंडित जी से कहा- महाराज जी के शरीर पर कितना मैल लगा है ये छुटाते क्यों नहीं। पंडित जी बोले तुम जाकर महाराज की वैय्यावृत्ति कर देना और मैल छुटा देना। जब हम महाराज जी के पास शाम को पहुँचे और मैल छुटाने का जैसे ही प्रयत्न किया महाराज मे मुझे दूर हटा दिया, फिर दुबारा हम साहस ही नहीं कर सके। वैरागी संत जन सदैव यही विचार करते है कि-

यज्जीवस्यो पकाराय, तद्देहस्यापकारकम्
यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम्।।१९ इष्टो.।।

शरीर के उपकार से आत्मा का अपकार तथा आत्मा के उपकार से शरीर का अपकार होता है अतः परम वीतरागता की मूर्ति वे संत जन शरीर को पोषतें नहीं अपितु शोषते हैं और अहर्निश ज्ञान, ध्यान, जप, त्याग व तप में डूबे रहते है।

एक बार अकबर ने बीरबल से कहा कि बीरबल कोयले को सफेद करके दिखलाओ तो कुछ देर विचार करने के बाद बीरबल को बात समझ में आ गयी और बीरबल ने उस कोयले को जलाकर राख कर दिया और कहा कि महाराज ! काले कोयले को शुद्ध करने का इस संसार में एक ही तरीका है कि उसे तपश्चरण की अग्नि में जला दो, देह के साथ भी ऐसी ही स्थिति है। यही विचार कर संत जन शरीर को पोषते नहीं अपितु तपश्चरण में लगा देते है।

देह को भी यदि पवित्र और पावनता से जोड़ना है तो जीवन में साधना की आँच उसे देनी ही पड़ेगी। स्वभाव से अशुचि होते हुए भी यह देह 'रत्नत्रय पवित्रिते' अर्थात् रत्नत्रय गुण से मंडित होकर पवित्र हो जाता है।

जब रत्नत्रय से पवित्र आत्मा अशुचि देह में रहती है तो उस आत्मा के संयोग से शरीर भी देवालय तुल्य हो जाता है, मंदिर कहलाने लगता है। भगवती आराधना में आचार्य महाराज ने जिस क्षपक की समाधि हो जाती है तो उसके शव की स्तुति, विनय का बहुत वर्णन किया है, किसी जिज्ञासु ने प्रश्न किया कि रत्नत्रय संपन्न आत्मा तो उस शरीर से निकल गई केवल हड्डी व मांस है ये जड़ वस्तुएँ पूज्य कैसे हैं तो आचार्य महाराज समाधान देते हुए कहते है- कि मूर्ति के संपर्क से मंदिर भी पूज्य हो जाता है। नौ देवताओं में एक जिनचैत्य भी है और इसकी पूजा की जाती है सिद्ध होनेवाले तथा जो हो चुके है ऐसे महापुरुषों के संसर्ग से एक पहाड़ भी पूज्य हो जाता है जिसमें मात्र घंटे, २ घंटे, माह, वर्ष इतना ही समय महापुरुषों ने बिताया है, निर्वाण क्षेत्र की भी पूजा की जाती है तो जो शरीर क्षपक की जीवन भर की साधना में साहायक बना है, रत्नत्रय धारण में माध्यम बना है वह पूज्य कैसे नहीं होगा। मंदिर की वेदी पर भी लोग पैर नहीं रखते, अभिषेक के समय उस पर चढ़ना भी पड़ता है तो विनयपूर्वक पहले प्रायश्चित के रुप में कार्योत्सर्ग करता है फिर चढ़ता है कि भगवन् ! मेरी भूलों को माफ करना और जब उतरते हैं तो उस पर पानी सींचकर पोंछ देते है, सिंहासन पर भी पैर नहीं रखा जाता, क्योकि वह भी परमात्मा के संसर्ग से पूज्यनीय है, आदरणीय है इसी प्रकार रत्नत्रय संपन्न आत्मा के संसर्ग से शरीर भी पूज्यनीय कहलाता है पूज्य होता है तथा दूसरा दृष्टिकोण यह है कि भक्त की दृष्टि परमात्मा के गुणों में होती है, अपने आराध्य (आचार्य, मुनि आदि) में जो रत्नत्रय गुण है उसके प्रति ज्ञानी, सम्मान, बहुमान रखता है तथा उन्हे देखकर गद्‌गद् हो जाता है तथा मेरी भावना की ये पंक्तियाँ उसके अंतरंग में गुंजने लगती है- कि

गुणी जनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे।

बने जहाँ तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे।।

गुण ही सर्वत्र पूज्यनीय होते है। इसीलिए आचार्य उमास्वामी महाराज ने तत्वार्थ सूत्र के मंगलाचरण में ''वंदे तद्गुण लब्धये'' अर्थात् गुणों की प्राप्ति के लिए परमात्मा को नमस्कार किया है। अतः बाहरी शरीर आदि का प्रदर्शन देखकर नहीं अपितु आत्मदर्शन, रत्नत्रय दर्शन करके सभी साधु जनों की भक्ति सेवा करनी चाहिए। क्योंकि वास्तविक भक्ति तो वही है जिसमें पूज्य पुरुषों के गुणों में अनुराग उत्पन्न हो, आचार्य ने कहा भी है - 'पूज्येषु गुणानुरागो भक्ति'। यदि दृष्टि गुणों पर नहीं है तो वह वास्तविक भक्ति नहीं अपितु प्रदर्शन ही होगा। जो पुरुष ज्ञानी होते है स्वयं गुणवान होते है वे सदैव गुणों को ही ग्रहण करते है गुणग्राही दृष्टिकोण रखते है तथा दोषों पर दृष्टि नहीं ले जाते।

एक बार नारायण श्रीकृष्ण रथारुढ़ होकर अर्जुन के साथ नगर भ्रमण के लिए जा रहे थे, कुछ दूर जाने के बाद अर्जुन कहते है सारथी रथ को रोक दो आगे मत बढ़ाना तब श्रीकृष्ण जी, अर्जुन से कहते है पार्थ ! क्या बात है अचानक रथ क्यों रुकवा दिया तब अर्जुन कहते है- कि आगे एक सड़ा हुआ मरा कुत्ता पड़ा है अत्यंत बीभत्स दिखायी देता है। तब श्रीकृष्ण जी कहते है अरे ! अर्जुन देखो तो उस कुत्ते के दाँत कितने उज्ज्वल है, कितने चमक रहे है। अर्जुन जी समझ जाते है यदि गुणों को ग्रहण करने की दृष्टी हो तो आज भी संसार में कांटो के बीच फूल मिलते है।

बंधुओं ! आगम में मात्र शरीर से ग्लानि रखने को विचिकित्सा नहीं कही अपितु ग्लानि मन से तथा वचन से भी हो सकती है। आचार्य कहते है हमें मात्र शारीरिक ग्लानि को ही नहीं अपितु मानसिक व वाचनिक ग्लानि से भी बचने का प्रयत्न करना होगा। मन, वचन, काय त्रियोगों से जो विचिकित्सा का त्याग किया जाता है वही वास्तविक निर्विचिकित्सा है।

मानसिक निर्विचिकित्सा :

मानसिक निर्विचिकित्सा के विषय में कवि कहता है -

मन की निर्मलता हो व्यापक, दृष्टीकोण हो गुणग्राही।

गुरु दर्शन पा हृदय खिले जब, वही मानसिक निर्विचिकित्सा है प्यारी।।

जब हमारा दृष्टिकोण गुणग्राही, सकारात्मक, दूरवर्ती नहीं होता है तो हमें दुसरें महापुरुषों के प्रति प्रायः मानसिक ग्लानि हो जाती है जैसे- किसी गुरु ने शिष्य को उसकी गल्ति पर डाँट दिया तो वह शिष्य उनके प्रति नकारात्मक चिंतवन के द्वारा बुरी भावना

रखने लगता है कि महाराज ने हमारा तिरस्कार किया, अपमान कर दिया, अच्छा व्यवहार नहीं किया अतः वह आंतरिक ग्लानि से भर जाता है परंतु जो गुणग्राही व सकारात्मक चिंतन करता है वह सोचता है कि गुरु का हृदय तो माँ की तरह होता है जैसे माँ बच्चे के हितार्थ ही डांटती है उसी प्रकार गुरु के वचन कटु होने पर भी मिश्री तथा अमृतरस के समान मीठे फल को ही प्रदान करते है, गुरु के समान अन्य कोई हमारा हितैषी, उपकारक नहीं है, अनादिकाल के संस्कारों को तोड़ना है तो तपना ही पड़ेगा, हमारा परम सौभाग्य है कि उन्होंने हमें सचेत कर दिया, हमारे कुसंस्कारों को हटाकर सुपथ पर लगाकर हमारा बड़ा उपकार किया है ऐसा चिंतन ही मानसिक निर्विचिकित्सा का उत्पादक होता है।

प्रायः अश्रद्धालु श्रावक, कि ऐसी मानसिकता होती है कि यदि महाराज उनसे न पुछें, आदर न दे तो उन्हें देखना भी पसंद नहीं करते। जैसे- राजा पद्म और बलि आदि मंत्रियों के आनेपर, महाराजों ने गुरु की आज्ञानुसार आशीर्वाद नहीं दिया, मुस्कुराएँ भी नहीं तब ग्लानि से भरे मंत्रियों ने कहा अरे, ये मूर्ख, अनपढ़, अज्ञानी है तभी आँखे बंद करके बैठे हैं, उनके अंदर अनादर के विचार उत्पन्न हुए यही तो मानसिक ग्लानि है जबकि राजा पद्म का हृदय कमल मुनियों की निष्पृह वृत्ति, परम वीतरागता व मौन को देखकर खिल गया यही मानसिक निर्विचिकित्सा कहलाती है।

वाचनिक निर्विचिकित्सा :

वाचनिक निर्विचिकित्सा के विषय में कवि कहता है-

गुरु रत्नत्रय गुणों की खान, जिनके वचन है बड़े महान।
भूल चूक पर निंदा न करते, वाचनिक निर्विचिकित्सा की पहचान।।

बंधुओं ! कभी-कभी हम रत्नत्रय गुण धारी मुनियों की भाषा उनके प्रवचनों को सुनकर उनकी निंदा चार लोगों से करते हैं कि इन्हें कुछ ज्ञान नहीं है, भाषा रुखी है, शब्द सामञ्जस्य अच्छा नहीं, शब्दोच्चारण भी ठीक नहीं है। उनके वचनों को सुनकर हमारे अंदर जो ग्लानि उत्पन्न हो रही है वही वाचनिक विचिकित्सा है, ऐसी विचिकित्सा अज्ञानी प्राणी के अंदर ही उत्पन्न होती है।

इसके विपरीत जो ज्ञानी होता है वह तो यही कहता है कि देखो महाराजने अपनी भाषा में हमें कितना सुंदर आगमिक उपदेश दिया है, वह उनके गुणों में प्रीति करता है वह ये सोचता है ये तो महाज्ञानी है क्योंकि उन्होंने अपने ज्ञान को आचरण में ढाला है तथा अपने वचनों से हमारा भी मोक्षमार्ग प्रशस्त कर रहे है। इस प्रकार की वाचनिक प्रवृत्ति वाचनिक निर्विचिकित्सा कहलाती है।

हे भव्य जीवों ! इस प्रकार मन, वचन व काय से रत्नत्रयधारी मुनिराजों से घृणा करना, ग्लानि करना सबसे बड़ा अपराध है, यदि घृणा व ग्लानि करना ही है तो स्वयं में निहित बुराईयों, कृत अपराधों से करो।

पद्म पुराण में रविषेणाचार्य महाराज कह रहे हैं -कि-

विधाय साधुलोकस्य तिरस्कारं जना महत्,
'दुःखमत्र' प्रपद्यन्ते तिर्यंच नरकेषु च ।। १४, १३ स.ग.पद्म पुराण।।

जो ग्लानि से प्रेरित होकर मुनिजनों का तिरस्कार व अपमान करता है उसे तिर्यंच और नरक गति में महान दुःख को भोगना पड़ता है।

हरिवंश पुराण में रूक्मणी के पूर्वभव के कथानक में आता है कि एक दिन रूक्मणी आभूषणों को धारण करके, नेत्रों से मणिमय दर्पण में अपना मुख देख रही थी. उसी समय तप से अतिशय कृष अर्थात् जिनके शरीर पर मल जमा हुआ था ऐसे समाधि गुप्त मुनिराज के शरीर को देख ग्लानि युक्त हों उनकी निंदा करती है और उस मुनि निंदा के प्रभाव से वह सात दिन के अंदर उदुम्बर नामक कुष्ठ रोग की शिकार हो उसकी असहनीय वेदना से अग्नि में प्रवेश करके मर गई तथा कुकरी, शूकरी, गधी, कुत्ती आदि निंद्य पर्यायों में महान दुःखों को भोगती हुई अत्यंत दुर्गंधित शरीर युक्त पूतिगन्धिका नामक पुत्री हुई।

कहने का तात्पर्य यह है कि रत्नत्रय से पवित्र मुनिराजों के शरीर को देखकर जो उनका पराभव करते है वे इहलोक व परलोक में परम दुःखों के भागीदार होते है। इसके विपरीत जो ज्ञानी जन इन रत्नत्रय धारी मुनिराजों की विनय और भक्ति करते है वे इहलोक व परलोक में सांसारिक तथा पारमार्थिक सुखों को प्राप्त करते है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ में आचार्य समंतभद्र महाराज कहते है-

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुंदररुपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ।।११५ र.श्रा.।।

जो प्राणी निर्विचिकित्सा गुणों से युक्त भव्य सम्यग्दृष्टि तपोंनिधियों अर्थात् मुनिराजों को प्रणाम करता है वह लोक मान्य उच्च गोत्र को, जो दान देता है वह इच्छित भोग सामग्री को, जो उपासना करता है वह तीनों लोको में पूजा सत्कार को तथा जो भक्ति करता है वह सुंदर रुप को तथा जो स्तवन करता है वह तीनों लोको में यशकीर्ति को प्राप्त करता है। कहा भी है कि

Speaking ill of Saints gives sorrow & devotion gives happiness

अर्थात् संतो की निंदा दुःख व भक्ति सुख देती है।

अतः भव्यात्मन् ! अंतरंग से ग्लानि, घृणा का भाव निकालना ही सच्ची धार्मिक निर्विचिकित्सा है और वह निर्जुगुप्सा सदैव सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के प्रति होनी चाहिए तथा हम ऐसा भी कोई कार्य न करें जिससे कोई ग्लानि करें।

सदैव मंदिरों की साफ सफाई रखें ताकि व्यक्तियों का मन बार-बार आने को करे, चावल द्रव्य आदि सामग्री को व्यवस्थित चढ़ाए जिससे चीट्रियाँ आदि जीव जंतु न हो सके। मंदिर में पक्षी आदि भी आते है तथा बीट आदि अशुद्धियाँ कर जाते है अतः मंदिर की सेवा duty के रुप में नहीं अपितु सच्चे भक्त बन कर करें जैसे हम अपने घर की सुंदरता रखते है वैसी ही क्या, उससे भी ज्यादा सुरक्षा मंदिर की रखे, जिससे किसी भी प्रकार की विचिकित्सा उत्पन्न न हो। जिनवाणी, शास्त्र भी हमारे लिए भगवान तुल्य पूज्यनीय है उसके बहुमान के लिए उसे व्यवस्थित उच्च स्थान पर रखें, वेष्टन आदि से कवर करें।

एक बार दो महिलाओं को शास्त्र पढ़ना था परंतु शास्त्र एक ही था एक महिला ने एक पेज निकाला, दूसरी महिला ने दुसरा निकाला। अब कौन इंतजार करें, एक का स्वाध्याय हो गया, दूसरी पढ़ रही थी, पहिली वाली महिला ने पन्ना वापस लगाए बिना ही शास्त्रालय में रख दिया, दुसरी ने भी पढ़ा और जाकर शास्त्रालय में यूं ही रख दिया अब कौन शास्त्र खोले व पन्ना लगाए, बंधुओं ! ऐसा करने से ज्ञानवरणीय कर्म का तीव्र आस्त्रव होता है। अतः सदैव शास्त्र की आसादना से बचें।

प्रायः अंधभक्ति में लोग, चावल शास्त्रों पर या अंदर चढ़ा देते है, अब चूहा महाराज तो आयेगे ही और शास्त्र को काटेगे खायेगे, परंतु पाप का भागीदार कौन बनेगा? आप ही शास्त्र आसादना के भागी बनोगे।

एक बार हम सांगानेर में मस्जिद के सामने वाले मंदिर में थे। उस मस्जिद के सात्विक विचार वाले मौलवी ने एक दिन जैन संतो से मिलने हेतु अपनी भावना व्यक्त की तथा सूचना भेंजी तो मैंने भी कहा- यदि वे शुद्ध शाकाहारी है तो सहर्ष आ सकते है, वे आकर मंदिर में बैठे, वही पर एक बिना दरवाजे की आलमारी थी जिसकी देख रेख कई सालों से नहीं हुई थी, उसमें कुछ शास्त्र बंधे रखे थे कुछ के पन्ने टुकड़े पड़े थे, धूल सीलन और चूने आदि के दाग लगे थे, जब मौलवी जी की दृष्टि उस पर पहुँची तो उन्होनें कहा ये कौनसी पुस्तके है तो मैनें कहा-सामान्य नहीं, हमारे शास्त्र है, जिनवाणी है, वे बोले- क्या ये पूज्य है मैंने कहा - हाँ, लोग रोज पूजा करते है उन्होंने कहा- अरे ! देखने से तो नहीं लगता, फिर भी मैंने समझाकर कहा- अनभिज्ञ लोग है, जानते नहीं त्रुटि हो गई।

अतः आज ऐसे नवयुवक मंडलों को सदैव आगे रहना चाहिए जो कि निःस्वार्थ सेवा सुरक्षा कर सकें, तभी ऐसे कार्य निर्विचिकित्सा के हेतु बनेंगे।

निर्विचिकित्सा गुण से युक्त व्यक्ति ही वैय्यावृत्ति नामक अंतरंग तप को कर सकता है तथा सेवा सुश्रुषा करके अहोभाग्य मानता है। पुज्य आचार्य श्री सन्मति सागर जी महाराज जब अपने गुरु प.पु.आ.श्री महावीर कीर्ति जी महाराज की सल्लेखना समाधि करा रहे थे तब वे स्वयं अपने हाथों से उनका मल साफ करते थे, ऐसी निर्विचिकित्सा वही धारण कर सकता है जो अत्यंत निर्मल व विशुद्ध सम्यक्त्व का धारी हो इस प्रकार जो ग्लानि रहित होकर दूसरों की सल्लेखना समाधि करवाता है उसकी भी सल्लेखना समाधि निर्विघ्न संपन्न होती है तथा रत्नत्रयादि गुणों की वृद्धी होती है-

ज्ञानार्णव ग्रंथ में आचार्य शुभचंद्र महाराज ने भी कहा है-

दहति दुरितकक्षं कर्मबंध लुनीते वितरति यमसिद्धिं भावशुद्धिं तनोति।
नयति जननतीरं ज्ञानराज्यं च दत्ते ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी॥
४० गा.ज्ञा.। सर्ग १५॥

उत्तम सेवा पाप रुपी वन को दग्ध करती है, कर्म के बंध को काटती है, चारित्र की सिद्धि कराती है, भावों की शुद्धता का विस्तार करके संसार से पार कर ज्ञानराज्य केवलज्ञान को देती है और सब दोषों का विलय करती है।

निर्विचिकित्सा अंग में उद्‌यायन नाम का राजा प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। उद्‌यायन राजा के निर्विचिकित्सा गुण की प्रशंसा एक बार देवलोक में देवों के मध्य हो रही थी वहाँ सौधर्म इंद्र कहता है कि उद्‌यायन नामक राजा का निर्विचिकित्सा गुण महान है, (गुण पुष्प की तरह होते है जिसकी सुगंध स्वतः फैलकर लोगों को प्रभावित करती है।) सौधर्म इंद्र के द्वारा राजा उद्‌यायन की प्रशंसा सुनकर एक देव को जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि चलकर देखना चाहिए कि राजा ने ग्लानि को कितना जीता है। वह देव विक्रिया से एक ऐसा मुनिवेश धारण कर लेता है जिसका शरीर अत्यंत वीभत्स था, शरीर पर फोड़े फुंसी, खाज-खुजली तथा जगह-जगह घाव थे जिन पर मक्खियाँ भिनक रही थी, पीव व खून का बहाव निरंतर जारी था, आँख में कीचड़ तथा कान से मंवाद निकल रही थी, नाक से मल बह रहा था तथा अति दुर्गंध से युक्त था, ऐसा रुप धारण कर वह जहाँ से निकलता था वहाँ के रास्ते खाली हो जाते, घर के खिड़की-दरवाजे बन्द हो जाते। आज सभी की मौन परीक्षा हो रही थी कि कौन सम्यग्दृष्टि है कौन मिथ्यादृष्टि है ? कौन धर्मात्मा है कौन अधर्मात्मा ? कौन गुरुभक्त है ? कौन अभक्त ? बार-बार गिरते-उठते वे मुनिराज नगर में प्रवेश कर गये, भक्त उद्‌यायन राजा मुनि महाराज का नगर में आगमन सुन गद्‌गद् हो

उनके सम्मान, आगवानी करने जाता है तथा अहोभाग्य मानता है कि मैं आज रत्नत्रयगुणधारी महाराज की सेवा करुंगा। उसका हृदय अत्यंत आल्हादित था।

जब मंत्री को पता चलता है कि राजा मुनिराज की आगवानी करने जा रहे है तो मंत्री राजा को रोकता है कि महाराज आप उन मुनिराज के पास न जाए दुर्गंध व रोग से भरे शरीर के संपर्क से आप भी बीमार हो जायेंगे। इत्यादि विभिन्न प्रकार से वह राजा को रोकने का प्रयत्न करता है परंतु कहा जाता है कि- भक्ति के आगे कोई शक्ति काम नहीं करती, अतः सबका समझाना उनके लिए चिकने घड़े पर पानी डालने की तरह व्यर्थ ही था, वे किसी की बातों से प्रभावित नहीं हुए और सभी को समझाते हुए बोले देखो- श्रावक का धर्म मुनि की परीक्षा करने का नहीं अपितु उनके रत्नत्रय से युक्त गुणों की पूजा भक्ति से होता है कहा भी है-

Virtuous sees virtue not the person

अर्थात् गुणी गुण देखता है व्यक्ति को नहीं।

ये साधु तो गुणों के आलय है और इनके शरीर में पवित्र आत्मा रुप परमात्मा विराजमान है। शरीर तो स्वभाव से ही अशुचि है वारसाणुवेक्खा में श्री कुंदकुंद आचार्य महाराज कह रहे है -

रसरूहिर मंस मेदट्ठी, मज्जसंकुलं मुत्तपूय किमिबहुलं।
दुग्गंधमसुचि चम्ममय, मणिच्चमचेयणं पडणं।।४५।। वा.अ.।।

अर्थात् यह शरीर रस, रुधिर, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा आदि सप्त धातुओं से व्याप्त है। मूत्र, पीव और कृमियों की इसमें बहुलता है। अतः यह अपवित्र, दुर्गंधित चर्ममय अस्थिर, अचेतन व नाशवान है। परंतु रत्नत्रय से युक्त आत्मा के कारण वह आज पूज्यनीय, पवित्र, आदरणीय है। अतः राजा ने इस अवसर को अपने धर्म, समर्पण, श्रद्धा, निर्विचिकित्सा गुण की परीक्षा का अवसर समझा और महाराज की भक्तिपूर्वक आगवानी कर नवधाभक्ति से पड़गाहन किया तथा गृहप्रवेश कराया, आज उसकी खुशी का पारावार नहीं रहा जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि होते है वे संतो को योग्य उत्तम पात्रों को पाकर आल्हादित हो जाते है कहा भी है

"साधु संत जेती धरा, होली दिवाली तेती घरा।"

अर्थात् मुनिराजों का आगमन होने पर भक्तों को होली दिवाली का त्यौहार लगता है और उनके चले जाने पर ऐसा लगता हौ कि मानों सर्वत्र शून्यता छा गयी हो।

राजा, मुनिमहाराज के शरीर की दुर्गंध आदि को भूलकर, अपने दृष्टिकोण को मात्र रत्नत्रय धर्म की ओर लगाकर आहार देना प्रारंभ करते है, देव अपनी

विक्रियाँ से दुर्गंध शक्ति को और बढ़ा देता है, देखते ही देखते सारा महल खाली हो गया। कर्मचारी कहते है कि मैं प्राणदंड सहन कर लूंगा, पर यह दुर्गंध सहन नहीं कर सकता।

बंधुओं ! उन्हें सहन होगा भी कैसे ? क्योकि दृष्टिकोण में ग्लानि भरी है, आँखो में मिथ्यात्व का चश्मा चढ़ा है तो गुण दिखायी नहीं देंगे, गुणों की सुगंधि नहीं आ सकती।

चौके में मुनि महाराज व राजा उद्‌यायन रह गये, अति भक्ति से युक्त होकर राजा, महाराज जी को आहार कराता गया और महाराज लेते गये, आहार जैसे ही पूर्ण हुआ कि मुनि वेशधारी उस देव ने सारा आहार वमन के रुप में राजा के ऊपर उगल दिया, राजा इस दृश्य को देखकर दुःख से विह्वल हो गया तथा मुनिराज के चरणों में गिरकर फूटफूट कर रोने लगा तथा क्षमायाचना करता हुआ बोला हे स्वामिन् ! मुझसे भूल हो गयी, मैंने आपको विवेक पूर्वक आहार नहीं दिया, हे महाराज ! धन्य है आपकी समता जो आप प्रकृति विरुद्ध आहार ग्रहण करते रहें, वह बार-बार अपने आप को धिक्कारता है, शोक मनाता है कि मुझसे गल्ति हो गयी।

बंधुओं ! यदि आज का श्रावक होता तो कहता कि मेरी क्या गल्ति मैंने तो आहार दिया और उन्होंने मेरे ही ऊपर उल्टी कर दी, इतना भी ज्ञान नहीं इन्हें आदि ?

देव राजा की इस प्रकार ग्लानि रहित वृत्ति देखकर बहुत प्रसन्न होता है और अपने असली रुप में प्रकट होकर राजा के निर्विचिकित्सा अंग की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है और उनके चरणों की पूजा करता है तथा कहता है- कि हे राजन् ! आपके विषय में मैंने जो सुना था उससे अधिक पाया।

बंधुओं ! राजा उद्‌यायन ने निर्विचिकित्सा अंग में अपनी अकाट्‌य भक्ति प्रदर्शित की, जिससे वह आज भी प्राणी मात्र अर्थात् धर्मात्माओं की श्रद्धा के हृदय सिंहासन पर आसीन है।

अतः हमें भी धर्म व धर्मात्मा से जुगुप्सा नहीं अपितु प्रमोद, विनय, आदर सम्मान व गुणग्रहण का भाव रखना चाहिए तभी हमारे जीवन में सच्ची निर्विचिकित्सा का अविर्भाव हो सकेगा। इसी भावना के साथ

"बोलिए भगवान महावीर स्वामी की जय"

* * *

" अमूढ़ दृष्टी बनकर करो मूढ़ता का परिहार "

१) कापथे पथि दुःखानां, कापथस्थेऽप्यसम्मतिः ।
असम्पृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टि रुच्यते ।। १४ र.श्रा.।।

दुःखों के कारण भूत मिथ्यात्व आदि के विषय में और मिथ्यात्व आदि के धारक व्यक्ति के विषय में मन से सहमत नहीं होना, शरीर से सराहना नहीं करना, वचन से प्रशंसा नहीं करना अमूढ़दृष्टि अंग कहलाता है।

२) वरं सर्पमुखे वासो, वरं च विष भक्षणम्।
वरमग्नि जले जातो, मिथ्यात्वेन न जीवितम्।। सु.रत्ना.२७।।

सर्प के मुख में वास करना श्रेष्ठ है, विषभक्षण करना भी श्रेष्ठ है, अग्नि और जल में गिर जाना श्रेष्ठ है लेकिन मिथ्यात्व के साथ जीवित रहना श्रेष्ठ नहीं है।

३) सम्यग्दर्शन संसुध्दः सत्पमाननुच्यते बुधैः।
सम्यक्तवेन बिना जीवः पशुरेव न संशयः।। सु.रत्ना.१९।।

सम्यग्दर्शन से सहित शुद्ध मनुष्य ही विद्वानों के द्वारा सत्पुरुष अर्थात् सज्जन पुरुष कहा जाता है सम्यक्तव के बिना जीव पशु ही है इसमें संशय नहीं है।

४) मद्य कुम्भो यथा शुद्धो, न स्याद् धौतः सरिज्जैः।
स्नानेनापि तथा जीवों, मिथ्यात्वादि मलीमसः।।

जिस प्रकार शराब का घड़ा जल से शुद्ध नहीं होता उसी प्रकार मिथ्यात्वादि दोषों से मलीन आत्मा भी जल से शुद्ध नहीं होती

५) सुहड़ो सुरत विणा, महिला सोहग्गरद्धि परिसोहा।
वेरग्ग णाण संजम हीणा, खवणा ण किं पि लब्भंते।।७२ र.सा.।।

जिस प्रकार शूरताहीन योद्धा, सौभाग्यहीन स्त्री शोभा सम्मान को नहीं पाती, उसी प्रकार वैराग्य, ज्ञान, संयम हीन मुनि सम्मान आदि कुछ भी प्राप्त नहीं करते।

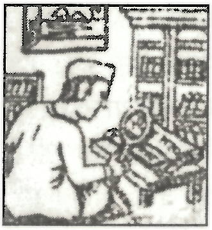

" अमूढ़ दृष्टि बनकर करो मूढ़ता का परिहार "

जब श्रद्धा का प्रादुर्भाव अंतरंग से नहीं होता अर्थात् ऊपर-ऊपर से ओढ़ी हुई होती है, तब हमारे हाथ तो जुड़ जाते है परंतु हम नहीं जुड़ पाते, हमारा शरीर तो झुक जाता है परंतु मन नहीं झुक पाता, हम बाहर से तो भक्ति कर लेते है परंतु हमारा अंतर मन भक्ति नहीं कर पाता, हम तो भगवान की पूजा कर लेते है परंतु हमारा मन बाहर ही भटकता रहता है, इसलिए हमारा सारा धर्म ऊपर-ऊपर का ही रह जाता है।

बंधुओं ! आज हम सभी लौकिक तथा पारमार्थिक प्रयोजनों को पूर्ण करने में समर्थ, कल्पवृक्ष के समान ऐसे सम्यग्दर्शन के चौथे अमूढ़दृष्टी अंग को अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करेंगे।

'अमूढ़दृष्टि' वह प्रज्ज्वलित दीप है जिसके आते ही सम्यग्दर्शन अत्यंत निर्मल, पावन-पुनीत हो जाता है अर्थात् हमारी श्रद्धा हेयोपादेय ज्ञान से संपन्न हो सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के प्रति अत्यंत दृढ़ हो जाती है और दृढ़ श्रद्धानी आत्मा देव, शास्त्र व गुरु के चरणों मे अपना सर्वस्व समर्पण कर जीवन के चरणोत्कर्ष को पा लेता है परंतु इसके विपरीत जिसकी दृष्टि मूढ़ता से सहित है तो उसकी श्रद्धा घड़ी के पेंडुलम के समान चलायमान, हेयोपादेय तत्वों के ज्ञान से शून्य, कच्चे धागे की तरह, तथा ऊपर से ओढ़ी हुई होती है ऐसी स्थिति में हमारे हाथ तो भगवान के प्रति जुड़ जाते है हम नहीं जुड़ पाते, हमारा शरीर तो परमात्मा के चरणों में झुक जाता है परंतु मन नहीं झुक पाता, हम बाहर से तो भक्ति कर लेते है, परंतु हमारा अंतर मन भक्ति नहीं कर पाता, हम तो भगवान की पूजा कर लेते है परंतु हमारा मन बाहर ही भटकता रहता है, इसलिए हमारा सारा धर्म ऊपर-ऊपर तक ही रह जाता है।

धर्म के विषय में हम मात्र इतना ही जानते है कि मंदिर जाना, पूजा-पाठ करना, स्वाध्याय करना, मुनियों को आहारादि देना यही धर्म है परंतु जब हम आगम की गहराई में उतरते है तो पता चलता है कि हमारी धार्मिकता बहुत कम है आचार्यों ने तो पूरा

संविधान रच डाला एवं हमारे हाथों में सौंप दिया परंतु हम उसे आत्मसात नहीं कर सके, हमने उस पर ध्यान नहीं दिया, वे बताते हैं कि सम्यग्दर्शन का स्वरुप कैसा हो ? हम छोटी-छोटी बातों पर संदेह करने लगते है। मूढ़ता वश यही सोचते है माने या नहीं।

बंधुओं ! यह शंका ही मूढ़ता है परंतु यदि तुम शंका भी करो तो ऐसा नहीं है कि तुम्हारी आज तक होती चली आ रही मूढ़ पद्धतियाँ सत्य सिद्ध हो जाए, अपितु तुम्हें अपनी पद्धतियाँ आगम से मिलानी होगी। आगम को हम अपनी पद्धति के अनुसार नहीं बदल सकते, परंतु लोक में जितने प्रकार के व्यक्ति होते है उनकी धारणाएँ भी उतने ही प्रकार की होती है कहा भी है-

Many man many minds

कहने का तात्पर्य यही है कि जितने प्रकार के व्यक्ति होते है उनकी धारणाएँ भी उतने ही प्रकार की होती है। परंतु सिद्धान्त, आगम एक ही है व्यक्ति उसे अपने विचार (पद्धति) के अनुसार नहीं बदल सकते। क्योंकि यदि तुम आगम को गलत सिद्ध करोगे तो, गणधर देव तथा अन्य आचार्य गलत सिद्ध होंगे एवं ऐसा होने पर सर्वज्ञ भगवान भी गलत ही सिद्ध होंगे।

अनंत-अनंत ज्ञानियों में एकमत रहता है तथा अनंत अज्ञानियों के अनंत मत होते है। आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ से महावीर स्वामी पर्यंत सभी ने समान उपदेश दिया, परंतु हम अज्ञानियों ने अपनी मूढ़ता वश शास्त्रों के वचनों पर कुतर्क करना आरंभ कर दिया। कभी-कभी व्यक्ति अपने विचारानुसार अर्थ करते है तो वे भटक जाते है यदि सभी ऐसा करें तो आगम की खिचड़ी बन जाए तब फिर आगम की प्रभाविकता खत्म हो जाएगी। जब हम अपने विचार आगम के अनुसार ढालते है तो संशय चला जाता है इसे ही अमूढ़दृष्टि कहते है।

बंधुओं ! अमूढ़दृष्टि का वास्तविक अर्थ है मूर्खता एवं अज्ञानता का न होना। आज प्रायः प्राणियों मे अज्ञानता का साम्राज्य छाया है, भारतीय संस्कृति में धर्म की प्यास तो हर प्राणी में रही, अबाल वृद्ध सभी कहते है कि शांति का नाम धर्म है परंतु धर्म यह कहता है कि तुम्हें क्या करना चाहिए, तुम्हारी क्रियाएँ, परिचर्या कैसी होनी चाहिए, परंतु हमारी बहुत सी क्रियाएँ अज्ञानता परख होती है जिन्हें प्रामणिक मानना मूढ़ता है, विचारों की व्यापक रूपता के कारण विभिन्न प्रकार के मत-मतान्तर व संप्रदाय खड़े हो जाते है। उदाहरण के लिए - एक व्यक्ति ने कहा दीप प्रज्ज्वलित करने से तथा अग्नि में धूप खेने से अग्निकायिक जीवों की हिंसा होती है तो फिर क्या हम छह द्रव्यों से पूजा करने

लगें? नहीं, यह उचित नहीं। परिस्थिति विशेष में हम अन्य वैकल्पिक सामग्री का इस्तेमाल कर सकते है, परंतु उसे राजमार्ग नहीं बना सकते। यदि ऐसा करेंगे तो वह मूढ़ता है, राजमार्ग तो यही है कि पूजा ८ द्रव्यों से ही की जाए।

बंधुओं ! आगम पर हमारी श्रद्धा मूढ़ता रहित होना चाहिए। पहले क्या करते थे या परंपरा क्या है यह विचारणीय नहीं अपितु विचारणीय यह है कि आगम क्या कहता है? एवं ध्यान रखे, वही करना जो आगम कहता है, विचारिये, यदि आचार्यो को उचित लगा तो वे ही दो द्रव्य कम कर देते- कुछ तो रहस्य है, उसमें तर्क नहीं होना चाहिए, कि ऐसा नहीं हो सकता, यह तो असंभव है कि वे आचार्य भगवंत ज्ञानी न रहे हों। उन्होंने ८ द्रव्यों का ही बखान किया, तर्क-वितर्क नहीं किये। फिर विचार आता है कि कदाचित् वे इस विषय में न सोच पाए हो तो वे कहते हैं कि मैं नहीं जो केवली ने कहा वही लिख रहा हूँ, यह सब जानने के बाद भी अपनी पद्धति-परंपरा को आगमनुकूल न बनाना मूढ़ता है, कुछ लोग कहते है कि धूप आदि खेना ब्राह्मणों की नकल है।

बंधुओं ! षट्खंडागम की पुस्तक १३ में उल्लेख आया है कि समवशरण के द्वारों पर दो पुत्तलिकाएँ धूप घट लिए खड़ी रहती है, उसमें अग्नि होती है एवं आने वाले व्यक्ति धूप खेते है तो इस पर शंका करना मूढ़ता है ये विषय ऐसे है जहाँ युक्ति तर्क नहीं चलते, जो सिद्धान्त ग्रंथो को आत्मसात् करते है वे ही उसे समझ सकते है।

आगम तर्क का विषय नहीं अपितु श्रद्धा का विषय है व आचरण का विषय है। कुछ लोग कहते है – कि जब भगवान द्रव्य खाते नहीं तो चढ़ाना क्या? मूर्ति के विषय में कहते है कि मूर्ति की स्थापना की क्या आवश्यकता है, उसमें अनेक झंझट है, कौन रक्षा करें, प्रतिष्ठा-पंचकल्याणक आदि आरंभ-सारंभ करें, उसका उत्पाद हुआ है तो वह मिटेगी भी। यह सब मूढ़ता है परंतु हमे चाहिए कि हम पहले तौल ले अपने विचार आगम के साथ कि आगम क्या कहता है।

बंधुओं ! यह हमारी कमजोरी है कि हम कहते है कि हम इस प्रकार चल नहीं सकते, आगम व आचार्य गलत नहीं है परंतु हमने अपने प्रमादवश, अपने विचारानुसार पद्धति निर्मित कर ली । यह हमारे विवेक की कमी है जिससे कर्तव्यों में कमी आ जाती है मंदिर में कदाचित् प्रमादवश आग लग गयी तो हमने दीपक जलाना बंद कर दिया यहाँ हमें अपने प्रमाद के उपचार की आवश्यकता थी न कि कर्तव्य के पलायन की। जिस प्रकार हाथ में फोड़ा फुंसी होने पर पूरा हाथ नहीं काटा जाता, ऐसा करना मूर्खता है उसी प्रकार हमें इस विषय में भी विवेकपूर्ण निर्णय लेना चाहिए, आवश्यक है गल्ती का

उपचार हो। द्रव्य पूजन में भी हम ऐसे रास्ते निकाले कि कम-से कम हिंसा हो एवं त्रस हिंसा न हो, फल, दूध आदि से पूजा करने के विषय में आचार्य कहते है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से भिन्न-भिन्न प्रांतो की भिन्न भिन्न परंपरा है ये उचित ही है परंतु हमारा कर्तव्य है कि हम एक परंपरा में दूसरी परंपरा न मिलाए।

पूज्य आचार्य भगवन्त कहते है कि यदि परंपरा में कोई कमी है तो कमी को सुधारो उसे अपनी कमी के अनुसार मत बदलो, जब से धूप न खेने की पद्धति प्रारंभ की गई तो कुछ पंडित अग्नि में कपूर, लौंग आदि से तथा कुछ अन्य लोग पीले चावलों से हवन करवाने लगे।

बंधुओं ! कहने का तात्पर्य यही है की यदि हम ऐसे विचारों पर आश्रय देने लगेंगे तो अनेक-अनेक घटक उत्पन्न हो जायेंगे, जो भिन्न विचारधारा के होने पर निश्चित ही टकरायेंगे। आगम कहता है कि अपने देश प्रांत की परंपरानुसार कार्य कीजिए कोई परेशानी नहीं परंतु आगमानुसार कर्तव्य का पालन करना उसमें प्रमाद नहीं करना। हमारा आगम पर अकाट्य श्रद्धा सहित कर्त्तव्य शील होना परम आवश्यक है क्योकि जिसकी श्रद्धा में मूढ़ता, अंधविश्वास, अज्ञानता नहीं होती, अपितु ज्ञान परख विवेक के साथ, परमार्थ भूत तत्वों के प्रति श्रद्धा होती है वह अमूढ़दृष्टि अंग का धारक सम्यग्दृष्टि है, और ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव को लौकिक या पारमार्थिक प्रयोजन सिद्ध करने यहाँ-वहाँ भटकना नहीं पड़ता अपितु ये सब तो देव-शास्त्र -गुरु के प्रति निश्छल भक्ति रखने से स्वयं सिद्ध हो जाते है क्योकि वह विचारता है-

इति स्तुतिं देव विधाय दैन्यात्, वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि।
छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात् कश्छायया याचित यात्मलाभः ।।

जिस प्रकार वृक्ष का आश्रय करने वाले पुरुष को छाया स्वतःही प्राप्त होती है उसी प्रकार आपकी भक्ति, स्तुति भी मुझे निश्चय से सुख, कीर्ति, धनसंपत्ति आदि वरदान को स्वयं देवेगी।

जबकि मूढ़दृष्टि अज्ञानी बहिरात्मा बाहरी चमत्कार अंधविश्वास लौकिक सुख सुविधाओं, धन संपदा, विषय भोग व अपनी इच्छा पूर्ति के लिए खोटे देव, खोटे गुरु व खोटे शास्त्रों को मानता है उनको ही पूजता है, क्योकि वह अज्ञानता में जी रहा है, उसे परख ही नहीं है कि सच्चा धर्म क्या है? सच्चे देव कौन है? सच्चा शास्त्र कौन सा है ? तथा सच्चे गुरु का स्वरुप क्या है ? कल्याण का रास्ता क्या है? प्रायः संसारी प्राणी इन बातों में सुप्त है तथा लौकिक संसार में जाग्रत है वही उसको दिखता है, जहाँ भी बैठता है संसार ही

उसकी दृष्टि में आता है, परमार्थ उसकी दृष्टि में नहीं आ पाता। तथा कदाचित् किन्ही कारण वश नजर आने भी लगता है तो वह भ्रमित होता हुआ उसके यथार्थ स्वरुप को नहीं समझ पाता फलतः उसे परमार्थ का जो सम्यक् लाभ प्राप्त होना चाहिए था वह नहीं हो पाता। कभी-कभी ऐसी स्थिति में हम पहुँच जाते है कि अज्ञानता में रत्न और चमकते हुए काँच के टुकड़े में हम भ्रांत हो जाते है और अपने ही हाथों से रत्नों को खो देते है। काँच के टुकड़े के भ्रम में रत्न को खो देना बड़ी भारी अज्ञानता है। इस स्थिति में मात्र पश्चाताप ही शेष रहता है बाकी सब अपने हाथ से निकल चुका होता है इस संदर्भ में एक घटना आती है।

एक सेठ जी थे, जो कि हर तरह से संपन्न थे, परंतु कर्मों की लीला बड़ी विचित्र होती है, जीवन में कब परिवर्तन आ जाए कुछ नहीं कहा जा सकता। सेठ जी पहले जौहरी थे, समय बदला और गरीबी आ गई, परंतु उन्हें दोहरा दुःख था - पहला तो गरीबी का और दुसरा अपने मान सम्मान का। क्योंकि वे एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, बड़े-बड़े लोगों के बीच इनका उठना -बैठना था, उन्हें इस बात की बड़ी वेदना थी कि अब कैसे बड़े लोगों के बीच आना-जाना होगा, करे तो क्या करें । उनके पास काँच के नकली रत्न थे, प्रायः जौहरी दो प्रकार के रत्न रखते है- असली व नकली । तथा दुकान भी दो प्रकार की होती है एक अंदर की और एक बाहर की। बाहर की दुकान नकली व अंदर की दुकान असली होती है। जितना ऊँचा जौहरी होता है उसकी व्यवस्था भी उतनी ही गुढ़ प्रकार की होती है।

एक बार सेठ जी का स्वास्थ्य बहुत अधिक खराब हो गया वे मरणासन्न अवस्था में पहुँच गये और अंत समय में उन्होंने अपने पुत्र को बची कुची सामग्री रत्न वगैरह सौंप दिये परंतु सेठ जी उस सामग्री के बारे में अपने बेटे को कुछ जानकारी नहीं दे पाये। बेटा भी अनपढ़ था, अनभिज्ञ था, अतः उसने पिता जी से रत्नों के बारे में कुछ नहीं पूछा। वह नकली व असली में अंतर नहीं समझता था, नकली रत्नों को पा कर वह बहुत खुश हो गया कि मेरे पास इतने रत्न है। एक बार उसकी माँ का स्वास्थ्य बिगड़ गया परंतु परिस्थिति ठीक न होने से इलाज कराने में असमर्थ थी अतः वह अपने बेटे से बोली कि बेटा रत्नों को बेच आओ या गिरवी रख दो परंतु अभी छोटे हो, कोई तुमसे रत्न छीन न ले, अतः तुम अपने मामा के पास जाओं वे भी रत्नों के व्यापारी है अतः तुम्हें रत्नों की सही कीमत दिलवा देंगे, बेटा सोचता है- माँ ठीक कहती है अतः वह पोटली में रत्न बाँध कर मामा के पास (उनके गाँव की ओर) चल देता है। जब वह मामा के पास पहुँचता है

तो मामा को सारी परिस्थिति से अवगत कराकर उनके हाथ में रत्न सौंप देता है, जब मामा उन रत्नों को देखते है तो बड़े असमंजस में पड़ जाते है कि ये रत्न नकली है, इसे इनकी असलियत बताएँ कि न बताएँ वह अनपढ़ है पता नहीं क्या-क्या सोचेगा इसे भ्रांति हो सकती है कि मामा मुझे ठगने के लिए ऐसा कह रहे है। यह सोचकर मामा ने न ही मोल भाव किया और न ही असली-नकली का भेद बताया। वे बोले बेटा ! बाजार का भाव अभी कम है, जब भाव बढ़ने लगेंगे तब बेचना तो अधिक मूल्य मिलेगा, अभी तुम्हे जो आवश्यकता हो मुझसे ले लो, तथा कुछ काम करना सीखो, मेरी दुकान पर बैठने लगो, वह मामा की बात स्वीकार कर मामा की दुकान में बैठने लगा, धीरे-धीरे वह असली-नकली रत्नों में पहिचान करना सीख गया। कुछ दिनों बाद मामा ने कहा- बेटा अब बाजार में रत्नों का भाव बढ़ गया है जाओ रत्न ले आओं। बेटा घर जाता है तथा तिजोरी में रखे रत्नों को निकालता है और जब वह उन रत्नों को देखता है तो पहचान जाता है कि ये रत्न तो नकली है, असली नहीं है इतने दिनों से मै भ्रम में था नकली को ही असली समझ रहा था, उसी प्रकार-

बंधुओं ! व्यक्ति सत्य और असत्य को समझ नहीं पाता, हिताहित के विवेक को जाग्रत नहीं कर पाता तथा काँच को ही रत्न मान बैठता है अर्थात् लौकिक प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए खोटे देव, खोटे शास्त्र व खोटे गुरुओं को मानता है, पूजता है और कुगतियों को प्राप्त करता है आगम में कहा गया है-

नीच देवरतो जीवो, मूढः कुगुरु सेवकः।
कुज्ञान तपस्या युक्तः कुधर्मात्कुगतिं व्रजेत्।। २६ सु.रत्ना.।।

अर्थात् खोटे देव, खोटे गुरु व खोटे शास्त्रों की सेवा में जो हमेशा रत रहता है वह कुगति को प्राप्त करता है।

अतः इनकी संगति से सदैव दूर से ही त्यागने योग्य है। भगवान कहते है हे भव्य ! यदि तुम इन कुगतियों से बचना चाहते हो तो आपके अन्दर सच्चे देव,शास्त्र,गुरु के प्रति सम्यक् श्रद्धा होनी चाहिए जो आपको सम्यक पथ का अनुगामी बना सके, मोक्ष पथ पर ला सके। आपके अंदर की मूढ़ता को दूर कर अमूढ़ता की ओर अग्रेसर कर सके।

रत्नकरण्ड श्रावाकाचार जी में आचार्य समंतभद्र महाराज अमूढदृष्टी अंग का स्वरुप बताते हुए कहा है।

कापथे पथि दुःखानां, कापथस्थेऽप्यसम्मतिः ।

असम्पृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ।। १४ र.श्रा.।।

'कापथ' - कुपथ से ही बना है जिसका अर्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य महाराज कह रहे है -'कुत्सित पथः इति कुपथः'

अर्थात् मिथ्या मार्ग, संसार में परिभ्रमण कराने वाला रास्ता कुपथ कहलाता है। अमूढ़दृष्टि बनने के लिए आवश्यकता है कि आप कुपथ-सुपथ, कुज्ञान-सुज्ञान, कुदेव-सच्चे देव, कुशास्त्र-सुशास्त्र को जानने की, क्योंकि रत्न और काँच का ज्ञान न होनेपर भ्रांति, संशय होता है और वह हमें मिथ्यात्व रुपी खाई में गिरा देता है, संसार में परिभ्रमण कराने वाला मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र कुमार्ग है और कुमार्ग पर चलनेवाला पथिक, कुपथिक है तथा मोक्ष की ओर ले जानेवाला सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र सुमार्ग है और मोक्ष मार्ग पर चलनेवाले रत्नत्रयधारी साधुगण, मुनिजन सुपथिक है।

हे भव्य प्राणियों ! जब प्राणी को कुमार्ग-सुमार्ग, कुपथ-सुपथ का अंतर ज्ञात होता है तो वह पश्चाताप करता है कि हे भगवन् !

रागसहित जग में रुल्यो, मिले सरागी देव।
वीतराग भेट्यो अबे मेटों राग कुटेव।।
कित निगोद कित नारकी, कित तिर्यंच अज्ञान।
आज धन्य मानुष भयों, पायो जिनवर थान।।

अनादिकाल से मै अज्ञानता वश कुमार्ग पर चलते हुए खोटे देव व खोटे गुरुओं को मानता रहा, जो उपलनाव के समान रागद्वेष रुपी संसार में अपने साथ-साथ हमें भी भटकाते रहे, परंतु सच्चे वीतरागी देव व सच्चे निर्ग्रंथ गुरु की पहचान हो जाने पर आज मुझे सम्यक ज्ञान की किरण प्राप्त हुई। अतः अब मै दुःखों के कारणभूत कुमार्ग तथा कुमार्गी की 'न सम्मति'मन से सराहना नहीं करूँगा, सच्चे सम्यग्दृष्टि का मन एक गुलिश्तान है जिसमें गुणीजनों, साधुजनों के गुणों के प्रति प्रसन्नता रुपी पुरुष और प्रशंसा रुपी सुरभि होती है वह कभी भी मूढ़, चमत्कारिक, अज्ञानता परख ज्ञान तथा चरित्र की चमक देखकर प्रभावित नहीं होता, क्योकि जिसका मन चलायमान हो गया उसका तन भी चलायमान हो जाता है।

परंतु बंधुओं ! धर्म कहता है कि हमारा सिर बाजार का नारियल नहीं कि जहाँ चाहे उसी देहरी पर फोड़ दिया जाए इस मस्तिष्क की बड़ी कीमत है, उसमें अमृत भरा है। सम्यग्दृष्टि तो वही झुकता है जहाँ झुकना चाहिए, जहाँ सत्यता है , सम्यकपना है, अन्यत्र

नहीं। कदाचित् यदि उससे अविनय हो जाता है तो वह पश्चाताप करता है कि धिक्कार हो मुझे, मेरे अज्ञान को, कि मैं देव-शास्त्र-गुरु के प्रति नहीं झुक पाया और उनके प्रति नहीं झुक पाया तो किसके लिए झुकूंगा। मेरी अज्ञानता ने मुझे सच्चे दर पर झुकनें नहीं दिया, हाथ नहीं जोड़ पाया इत्यादि वह धर्म के प्रति विनय नहीं कर पाता तो दुःखी होता है और अधर्म के प्रति यदि स्वप्न में भी झुकता है तो प्रायश्चित लेता है पश्चाताप करता है। लोग कहते है महाराज हम अन्य खोटे देवी-देवताओं के मंदिर जाते तो है और सिर भी झुकाते हैं पर ध्यान अपने भगवान का करते है एवं णमोकार मंत्र भी पढ़ लेते है जब कि आचार्य महाराज कहते है कि छलकपट व मायाचारी सहित की गयी सारी क्रियाए व्यर्थ है क्योंकि सच्चा सम्यग्दृष्टि तन से खोटे देवताओं का सम्मान नहीं करता है. यहाँ 'असम्पृक्ति' विशेषण दिया गया है। शरीर से सम्मान नहीं करना परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनका हम अपमान करें अपितु मध्यस्थ भाव धारण करना चाहिए। अगला विशेषण 'अमुत्कीर्ति' दिया गया है जिसका तात्पर्य है वचन से खोटे देवी-देवताओं की प्रशंसा नहीं करना, मुख के माध्यम से भी किर्ति होती है, कुछ लोग सुनाने लगते है महाराज श्री फलाने मंदिर की कला, वैभव, सौंदर्य बहुत आकर्षक है, उनके शास्त्रों में ऐसी-ऐसी चमत्कारिक बाते निकलती है, वहाँ के देवता की बड़ी प्रसिद्धि है जो मांगो वह मिलता है, महाराज कहते है, हे भोले प्राणी ! जो चर्चा प्रशंसा हमें मिथ्यात्व रुपी महासागर में डुबा दे, ऐसी चर्चा सुनने व कहने से क्या प्रयोजन। प्रशंसा करना ही है तो मोक्षमार्ग के साधक लोगों की करो, जिससे तुम्हारा स्वयं का व पर का कल्याण होगा।

आचार्य महाराज कह रहे है कि पहले तुम मूढ़ताओं रुपी विष का त्याग कर दो तभी तुम अमूढ़दृष्टि रुपी अमृत रस को अपने मस्तिष्क में भर पाओगे क्योंकि बिना खाली हुए भर नहीं सकते। अतः तीन मूढ़ता कहीं गयी है। सबसे पहले देव मूढ़ता के स्वरुप का वर्णन करते हुए आचार्य समंतभद्र महाराज अपने रत्नकरंण्ड श्रावकाचार ग्रंथ में कह रहे है-

देव – मूढ़ता :

वरोपलिप्सयाशावान्, रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते॥२३ र.श्रा. ॥

लौकिक फल संबंधी अपेक्षा, आशा, प्रयोजन को लेकर राग, द्वेष से मलिन देवी-देवताओं के प्रति उपासना, भक्ति करना देवमूढ़ता है। मूढ़ता के सद्भाव में प्रायः

व्यक्ति यही सोचता है कि सभी देव समान है, भगवान एक है, तो उनकों एक मानने पर क्या फर्क पड़ता है, अतः वह दोनों की भक्ति करता है तो आचार्य महाराज कहते है कि जिस प्रकार एक साथ दो काम नहीं होते, उसी प्रकार दोनों में समान भक्ति होने पर आपका सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान नहीं बन पायेगा, और आप वैनियक मिथ्यात्व की कोटि में आ जायेगे।

हे भव्य आत्मन्! सोचो, क्या कर्म सिद्धान्त, आपका भाग्य कुदेवों की शरण में जाने से बदल जायेगा, आप जो मांगोगे वही मिलेगा? नहीं, सत्य तो यह है कि तुमने शुभाशुभ कर्म रुपी बीज बोये है उन्हें तुम्हें पुण्य व पाप रुपी फल के रुप में भोगना पड़ेगा। जब ज्ञानी इस चिंतन की गहराई में डुबता है तो पाता है कि जो रागी द्वेषी देवी देवता स्वयं संसार में परिभ्रमण कर रहे है, कर्मो के पराधीन है वे हमें क्या सुख देंगे। अतः वह उन रागी द्वेषी देवी देवताओं को छोड़कर परम वीतरागी देव की शरण में जाता है और उनकी निष्काम भक्ति करता है। वीतरागी देव की शरण में जाता है और इनकी निष्काम भक्ति करता है वीतरागी देव के समक्ष भी वह लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि हेतु याचना नहीं करता क्योंकि सच्चे वीतरागी देव राग व द्वेष से रहित है वे न तो किसी को कुछ देते है तथा न ही किसी की भक्ति से प्रसन्न होते है और न ही अपमान से दुखित होते है, परंतु फिर उनकी भक्ति करने से भक्त स्वयं सब कुछ प्राप्त कर लेता है। विषापहार स्तोत्र में धनन्जय कवि ने कहा है-

'अपुण्य पापं पर पुण्य हेतुं' भगवान न तो किसी को सुख देते है न किसी को दुःख देते है परंतु उनकी भक्ति पुण्य का प्रबल हेतु स्वयमेव बन जाती है अर्थात् वीतराग देव की भक्ति करने से बिन मांगे ही सब कुछ मिल जाता है। अतः कहा भी गया है-

प्रभु की भक्ति करों भाव से,
निर्मलता विशुद्धि बढ़ाती है।
मनवांछित फलों को देकर,
पुण्य का संचय कराती है।।

पाखंडी मूढ़ता :

रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ में आचार्य समंतभद्र महाराज नें पाखंडी मूढ़ता के स्वरुप का वर्णन करते हुए कहा है-

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम्।। २४ र.श्रा. ।।

'पाखंडी' साधु का ही अपरनाम पाखण्डी होता है। इसका शाब्दिक अर्थ है - जो पापों का खंडन करता है वह पाखंडी है, परंतु वर्तमान में जो ढ़ोंग करने वाले (दिखावा करने वाले) खोटे आचरण वाले है उन्हें पाखंडी कह दिया जाता है।

यहाँ पर आचार्य महाराज कह रहे है कि जो आरंभ व परिग्रह से सहित है, संसार में घुमने वाले है, नाना प्रकार के वेषों को धारण करने वाले है अर्थात् जटा जूट धारी है ऐसे कुलिंगी खोटे साधुओं की सेवा सुश्रुषा, आदर-सम्मान पूजा आदि करना पाखंडी मूढ़ता है।

आज प्रायः लोग सच्चे वीतरागी देव, निर्ग्रंथ गुरु व सच्चे धर्म पर श्रद्धा न होने के कारण, वे पीर पैगम्बर, जटाजूट धारी साधुओं के पास अपनी मनोकामनाओं की पूर्ति व दुःखो को दूर करने के लिए जाते है, दर-दर के भिखारी की तरह यहाँ-वहाँ घुमते है परतु आना अंततः सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की ही शरण में पड़ता है. एक बार की बात है कि एक जैन श्रावक एक सिक्ख धर्म के साधु के पास झड़वाने के लिए पहुँचा तो सिक्ख साधु ने पूछा- तुम किस धर्म के अनुयायी हो, तो वह श्रावक बोला- मैं जैन हूँ, तो उस संत को बड़ा आश्चर्य हुआ वह बोला- आप मेरे पास आये है और मैं आपके णमोकार मंत्र से ही झाड़ता हूँ, लगता है आपको णमोकार मंत्र पर श्रद्धा नहीं, वह व्यक्ति बड़े शर्मिन्दित हुए।

अतः हे भव्यात्मन्! णमोकार मंत्र पर श्रद्धान करो क्योंकि आरंभ और परिग्रह से रहित, ज्ञान ध्यान व तप में लीन निर्ग्रन्थ साधु ही सच्चे साधु है, वे ही मोक्षमार्ग पर चलकर स्वयं संसार सागर से तरने वाले तथा दूसरों को तारने वाले होते है अतः निरंतर वे ही उपासना करने के योग्य है।

लोकमूढ़ता :

आचार्य श्री समंतभद्र महाराज लोकमूढ़ता के स्वरुप को बताते हुए कह रहे है कि-

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरीपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते॥ २२

झूठी परंपरा, अंधविश्वास, रुढ़ी मान्यतानुसार समुद्र नदी में स्नान करना, बालू आदि का ढेर लगाना , अग्नि में कुदना, पर्वत से गिरना आदि में धर्म मानना लोकमूढ़ता है। आचार्य महाराज कह रहे है कि हे मूढ़ प्राणी! यदि समुद्र, नदी, आदि में स्नान करने

से हमारे पाप धुल जाते है तो फिर समुद्र, नदी आदि में जलचर जीवों के पाप सर्वप्रथम धुलना चाहिए परंतु ऐसा नहीं होता। यह मात्र हमारा भ्रम है इस विषय में एक प्रसंग आता है एक बार पांडवों ने श्रीकृष्ण जी को पाप से मुक्ति हेतु साथ में गंगा स्नान हेतु चलने के लिए आग्रह किया, श्री कृष्ण जी को मूर्खता भरी बातों को सुनकर हंसी आ गई, उन्होने उनसे कहा मै तो नहीं जा सकता परंतु मेरे प्रतिरुप में यह तुम्बी ले जाओ, इसको स्नान कराना। पांडव उस तुम्बी को लेकर गंगा स्नान को चल पड़े, उन्होंने स्वयं गंगा में १०८-१०८ बार डुबकी लगाई और तुम्बी को भी नहलाया और जब वापस लौटकर आये तो प्रसन्नता पूर्वक तुम्बी वापस श्री कृष्ण को दे दी, श्री कृष्ण जी ने गंगा स्नान की खुशी में प्रीतिभोज पर निमंत्रित किया तथा उसी तुम्बी को भोजन परोसा, जैसे ही सबने भोजन प्रारंभ किया सब थू-थू करने लगे क्योंकि तुम्बी बहुत कड़वी थी। श्री कृष्ण जी बोले अच्छा १०८ बार गंगा स्नान करके भी इसकी कड़वाहट नहीं गई।

हे पांडवों ! जिस प्रकार गंगास्नान से भी इस तुम्बी की कड़वाहट नहीं गई उसी प्रकार शरीर मात्र के नहाने से आत्मा शुद्ध, पाप से रहित नहीं हो सकती क्योंकि आचार्य महाराज कह रहे है हे भव्यआत्मन् !

मद्यकुम्भो यथा शुद्धो न स्याद् धौतः सरिज्जैः।
स्नानेनापि तथा जीवों मिथ्यात्वादि मलीमसः।।

जिस प्रकार शराब का घड़ा जल से शुद्ध नहीं होता उसी प्रकार मिथ्यात्वादि दोषों से मलीन आत्मा भी जल से शुद्ध नहीं होती तब श्रीकृष्ण ने कहा, हे पांडवो!

आत्मा नदी संयम तोय- पूर्णा, सत्यावहा शीलतटादयोर्मिछ।
तत्रावगाहं कुरु पाण्डुपुत्र ! ना वारिणा शुद्धयति चान्चरात्मा।।

आत्मा रुपी नदी जो संयम रुपी जल से भरी है, सत्य और शील जिसके तट है, उसमें तुम आत्मा की शुद्धी हेतु स्नान करो।

हे मनीषीओं ! भेड़चाल में चलकर धर्म के नाम पर झूठी परंपराओं का पालन न करों। सच्चे सुख, निःश्रेयस सुख अर्थात् मोक्ष की सिद्धि के लिए ध्यान रुपी अग्नि में स्वयं का होम करो, गिरना ही है तो कषाय, पाप, कुसंस्कार रुपी पर्वतों से गिरो तभी स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति होगी, ढेर की पूजा ही करना है तो कंकर पत्थर के ढेर की नहीं अपितु आत्मीय उत्तम क्षमादि गुणों के ढेर, पुंज स्वरुप सच्चे वीतरागी भगवान व मुनिराजों की पूजा करों तभी सही धर्म होगा और आपका कल्याण होगा अन्यथा अग्नि में कूदने, पर्वत से गिरने, रेत के ढेर की पूजा से तो मात्र पाप, अकल्याण, नरक आदि दुर्गतियों व दुःखों

की प्राप्ति होगी।

हे प्रिय भव्यात्मन् ! कहने का तात्पर्य यह है कि आज पुण्य के उदय से आपको बड़े-बड़े जिन-चैत्यालय, मूर्तियाँ, दिगंबर रुप धरनेवाले संयमी मुनिजन, साधुसंघ अनुकूल घर परिवार, अच्छा कुल, धर्म सब मिला, फिर भी आप उसका यथोचित लाभ न ले पायें तो, जरुर आपके अंदर कोई न कोई कमी है इसी विषय में एक कथानक आता है कि एक राजा अपनी पूरी सजी संवरी सेना के साथ एक विवाहोत्सव में गया, उसके स्वागत सत्कार के लिए बड़े-बड़े लोग आयें, भोजन में ५६ प्रकार के व्यंजन, पकवान आदि बनाए गये पर जैसी ही खाने का नंबर आया तो वह चारों ओर देखता है कि सभी के साथ परिवार के लोग भोजन बड़ी रुची के साथ कर रहे है, परंतु राजा को वे ५६ भोग भी रुचिकर नहीं लग रहे थे, आखिर क्या कमी है, जो राजा को खटक रही है, राजा से पूछा गया कि महाराज ! क्या आपको हमारे यहाँ का भोजन पसंद नहीं आया या कुछ कमी रह गई है, कृपया त्रुटि से अवगत करायें ताकि उसे दूर किया जा सके। तब राजा उत्तर देता है नहीं-नहीं आपके स्वागत सम्मान, भोज्य सामग्री आदि में कुछ कमी नहीं है परंतु बात यह है कि मुझे भूख नहीं है। भूख न होनेपर अमृतमयी, मिष्ठ पकवान भी रुचिकर, खाने योग्य नहीं लगते है।

उसी प्रकार आपको सबकुछ मिला पर आंतरिक धर्म, देव-शास्त्र गुरु के प्रति सच्ची श्रद्धा नहीं रही तो आप भी उस राजा की तरह अमृत सुवर्ण के समान पुण्यावसर का लाभ नहीं ले पायेंगे। शास्त्रों में कहा है, कि अनेक-अनेक भवों का पुण्योदय जब एकत्रित होता जाता है तब कहीं देव-शास्त्र-गुरु का सान्निध्य, उनके पवित्र वचन, उनकी सेवा, भक्ति, उपासना का अवसर प्राप्त होता है अतः आप क्षणिक सांसारिक सुख के लिए मिथ्यात्व का पोषण न करें क्योकि सुभाषित रत्नावली मे कहा है-

वरं सर्पमुखे वासो, वरं च विष भक्षणम्।
वरमग्नि जले जातो, मिथ्यात्वेन न जीवितम्॥२७ सु.र.॥

सर्प के मुख में वास करना श्रेष्ठ है, विष भक्षण करना तथा अग्नि और जल में गिरना श्रेष्ठ है लेकिन मिथ्यात्व के साथ जीवित रहना श्रेष्ठ नहीं है, सच्चा सम्यग्दृष्टि तो मिथ्यात्व के साथ चक्रवर्ती पद की अपेक्षा, सम्यक्त्व रुपी निधि से सहित दरिद्र होना श्रेष्ठ समझता है।

बंधुओं ! हमारे पूर्ववर्ती बड़े-बड़े आचार्य भगवंत हुयें जिन्होंने मिथ्यात्व रुपी अंधकार को दूर करने तथा सम्यक्त्व का प्रकाश करने के लिए बड़े-बड़े कष्टों को सहा,

कितनी मेहनत की तब जाकर आज इतनी जैन समाज दृष्टिगोचर हो रही है। अर्वाचीन आचार्यों की श्रृखंला में एक लोहाचार्य भी हुए जो पहले १०० व्यक्तियों से मिथ्यात्व का त्याग कराते फिर आहार करते थे। वर्तमान समय में पूज्य आचार्य आदिसागर जी(अंकलीकर) आचार्य शांतिसारग जी, आचार्य महावीर कीर्ति जी और हमारे पूज्य गुरुवर निमित्तज्ञानी आचार्य विमल सागर जी महाराज का नाम सुवर्ण अक्षरो में उल्लेखित है, पूज्य गुरुवर ने तेजी से गतिशील प्राणियों को मिथ्यात्व रुपी दलदल से निकाला, उन्हें अपने निमित्तज्ञान तथा हार्दिक वात्सल्य भाव के बल से सच्चा मार्ग, सन्मार्ग दिखाया। गरीब को धन का, रोगी को निरोगी होने का, बुद्धिहीन को बुद्धिमान बनने का, पुत्रहीन को पुत्रवान बनाने का, दुःखी को सुखी बनाने का उपाय बताया। सभी को अपने देव-शास्त्र-गुरुओं, धर्म की महिमा का रहस्य समझाया, एक मात्र णमोकार मंत्र के बल से सभी को धर्म के आगे श्रद्धान्वित कर झुका दिया, पूज्य गुरुवर कहते थे कि णमोकार मंत्र पर श्रद्धा करो, उससे बड़ा कोई मंत्र नहीं, इस मंत्र से संग्राम, समुद्र, गजेन्द्र, सर्प, सिंह, बीमारी, शत्रु, चोर, ग्रह, राक्षस और ड़ाकिनी आदि का भय नष्ट हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति ये कहे कि - महाराज जी, यह मंत्र तो हम रोज ही पढ़ते है कोई दूसरा मंत्र दे दीजिए तो वे कहते है कि यदि तुम्हें णमोकार मंत्र पर श्रद्धान नहीं, तो तुम्हें दूसरा मंत्र भी उपलब्धियाँ नहीं दे सकता। क्योंकि कहा भी गया है-

आकृष्टिं सुरसंपदा विदधते मुक्तश्रियो वश्यता-
मुच्चाटं विपदां चतुर्गति भुवां विद्वेष मात्मैनसाम्।
स्तम्भं दुर्गमन् प्रति प्रयततो मोहस्स सम्मोहनं,
पायात्पञ्च नमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता ।।१३ स.भ. ।।

एक मात्र महामंत्र की आराधना से देवों की विभूति का आकर्षण, मुक्ति लक्ष्मी का वशीकरण, चारों गतियों में होनेवाली विपत्तियों का उच्चाटन(नाश), आत्मा संबंधी पापों का विद्वेष(अभाव), दुर्गतियों में जाने का स्तंभन(रोक), मोह का सम्मोहन होता है। पूज्य आचार्य विमल सागर जी महाराज ने गुनौर आदि ग्रामों में न जाने कितने ही प्रकार की मिथ्यात्व की पोषक कुरीतियों जैसे बली प्रथा, सती प्रथा, मिथ्यादेवी देवताओं का प्रकोप आदि को दूर कराया। उनके मानस में विवेक , ज्ञान, श्रद्धा का सूरज उगाकर उन्हें सच्चा सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा बनाया और इतना अमूढ़, अकाट्य श्रद्धानी बनाया कि वे आज भी कैसी भी परिस्थिति में खोटे देवी-देवताओं को नहीं पूजते, उनके हृदय में मात्र आज सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का ही निवास है। इसी प्रकार अमूढ़ श्रद्धा को धारण करने में

रानी रेवती प्रसिद्ध हुई जिसकी कहानी इस प्रकार है।

विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी के मेघकूट नगर में राजा चंद्रप्रभ बड़ी कुशलता से धर्म के साथ राज्य पालन करते थे, वे एक बार राजपुत्र चंद्रशेखर को राज्य देकर तीर्थवंदना हेतु निकले और असीम पुण्योदय से मुनि गुप्ताचार्य के वैराग्यवर्धक प्रवचनों को सुनकर वैराग्य से युक्त हों सोचने लगे मैं अभी तक न जाने कितनी गतियों में भटकता रहा, अब अवसर मिला है तो मैं अपना आत्महित करुंगा, उन्होंने किसी से कुछ नहीं पूछा क्योंकि वैराग्य, समय, उम्र, स्थान आदि की अपेक्षा नहीं रखता, दयालु गुप्ताचार्य मुनिराज ने भी उनकी वैराग्य से युक्त आत्म कल्याण की तीव्र भावना देख क्षुल्लक दीक्षा दे दी, सत्य ही कहा है, गुरु डूबते को सहारा देकर भवसागर से निकाल देते है अतः 'गुरु भक्तिः सति मुक्तिः' की युक्ति को ध्यान में रखकर वे क्षुल्लक जी गुरु चरणों की भक्ति करते हुए मुक्ति प्राप्ति की साधना में निरत हो गये।

एक बार चंद्रप्रभ क्षुल्लक जी ने विनय पूर्वक गुरु चरणों में प्रार्थना की, कि हे गुरुवर ! मैं कृत्रिमाकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना करना चाहता हूँ, गुरु ने कहा-तथाऽस्तु ! मै पहले मथुरा चौरासी जाऊँगा, क्या वहाँ किसी को कोई सूचना देना है क्या? पूज्य गुरुवर ने कहा- वहाँ एक श्री सुव्रत मुनि है उन्हें नमोऽस्तु तथा राजा वरुण की रानी रेवती को आशीर्वाद कहना। क्षुल्लक जी ने कहा- वहाँ भव्यसेन नामक मुनिराज भी है। परंतु गुरु मौन ही रहते है। भव्यात्मन्! जो पूज्य महापुरुष ज्ञानी गुरुजन होते है वे सहसा हर बात का उत्तर नहीं देते, वे दूरदर्शी होते है। क्षुल्लक जी मन में विचार करते है-

गुरु आज्ञा टाले नहीं, इसमें रहस्य समाय।
गुरु आज्ञा सिर पर धरे, मुक्ति उनको ध्याय।।

ऐसा सोचकर क्षुल्लक जी यात्रा को चल पड़ते है तथा सबसे पहले सुव्रत मुनि के पास जाकर नमोऽस्तु बोलते है वे भी प्रतिनमोऽस्तु बोलते है क्षुल्लक जी उनकी आगमानुकूल चर्या देखकर श्रद्धा से नतमस्तक हो जाते है और फिर भव्यसेन के पास पहुँचते है तथा अपना परिचय देते है और अपने पूज्य गुरुवर के रहस्य को जानने के लिए क्षुल्लक जी प्रथम परीक्षा करते है - वे शौच हेतु जाते समय अपनी विद्या के बल से मार्ग मे घास उत्पन्न कर देते है, दिगंबर संत घास पर नहीं चलते अतः भव्यसेन महाराज वही रुक गये, तो क्षुल्लक जी बोले, चलिए महाराज कौन जानता है कि हरितकाय वनस्पति में जीव है कि नहीं? दिखते है क्या? ये शास्त्रों की बाते है ऐसा सुनकर वे कहते है कि सही बात है और हरी घास को कुचलते हुए निकल जाते है।

क्षुल्लक जी ने दूसरी परीक्षा के लिए कमण्डल जल सुखा दिया, वे शौच के लिए बैठ गये परंतु कमण्डल में जल नहीं था, क्षुल्लक जी ने अपनी विद्या से तालाब उत्पन्न कर दिया बोले महाराज ! इसका जल तो प्रासुक ही होता है और कौन जानता है कि इसमें जीव होते है, इस बार भी उन्होंने आगम के प्रतिकूल पानी को जो अप्रासुक,जीवों का भंडार होता है, विपुल जीव राशि से संपन्न है उसे अपने कमण्डल में भर लिया अब क्षुल्लक जी ने जान लिया कि पूज्य गुरुवर ने उन्हे नमोऽस्तु क्यों नहीं किया, वास्तव में ये भव्यसेन नहीं अपितु अभव्यसेन है अतः ऐसे मुनि सत्कार, विनय के योग्य कैसे हो सकते है क्योंकि - रयणसार ग्रंथ में पूज्य आ.कुंदकुंद महाराज ने कहा है-

सुहड़ो सूरत विणा, महिला सोहग्गरद्धि परिसोहा।
वेरग्ग णाण संजम हीमा खवणा ण किं पि लब्भंते।। ७२ रयण।।

जिस प्रकार शूरताहीन योद्धा व सौभाग्यहीन स्त्री शोभा को प्राप्त नहीं होती उसी प्रकार वैराग्य, ज्ञान, संयम हीन मुनि सम्मान आदि कुछ भी प्राप्त नहीं करते।

अब क्षुल्लक जी अपने गुरुवर के आशीष की अधिकारी रानी रेवती की परीक्षा हेतु प्रथम नगर की पूर्व दिशा में विद्या के बल से कमलासीन, सफेद दाढ़ी युक्त बाल,चतुर्मुख बनाकर ब्रह्मा का रुप धारण कर बैठ गये, धीरे-धीरे सारे नगर में खबर फैल गई, सभी लोग, नगरवासी ब्रह्मा का दर्शन करने आये परंतु रानी रेवती नहीं आयी। सभी ने रानी से आग्रह किया परंतु रानी ने साफ इंकार कर दिया। अब दूसरे दिन क्षुल्लक जी दक्षिण दिशा में विष्णु का रुप बनाया, सभी नगरवासी पुनः आये, परंतु रानी रेवती फिर भी नहीं आयी। तीसरे दिन क्षुल्लक जी ने पश्चिम दिशा में महादेव का रुप बनाया, सभी नगरवासी चमत्कार देखने फिर दौड़े पर रानी रेवती जो आगम वचनों पर अकाट्य श्रद्धान रखनेवाली थी उसने कहा-

आगम में ९(विष्णु) नारायण, ११ रुद्र(महादेव) ही होते है १० या १२ नहीं और वे हो ही चुके है। अब की बार क्षुल्लक जी नें विशेष बुद्धी का प्रयोग किया और उत्तर दिशा में साक्षात् तीर्थंकर का समवशरण रच डाला, अब इस दृश्य को देखकर तो अच्छे-अच्छे सम्यग्दृष्टि भी ढ़ीले पड़ गये, तथा भावुकता वश दर्शनार्थ आने लगे, भव्यसेन मुनि भी आये। परंतु धर्म में अकाट्य श्रद्धान रखनेवाली रानी रेवती नहीं आयी क्योंकि वह जानती थी ' नान्यथा वादितो जिनाः' वीतरागी जिन भगवान अन्यतावादी नहीं होते है उनके वचन युक्ति, तर्क व हेतुओं से भी विरोध को प्राप्त नहीं होते, आगम में तीर्थंकर २४ ही कहें गये है और वे हो चुके है। तो २५ वे तीर्थंकर कहाँ से आ गये। तीर्थंकर २५ न हुए

है न होगे, मुझे ऐसा अकाट्य विश्वास है।

क्षुल्लक जी ने अब अपना रुप स्थूलकाय विद्रुप बनाया और रानी के मंदिर के रास्ते पर चिल्लाकर कहने लगा हाय-हाय मेरे हाथ पैर मोटे हो गये मुझसे उठा भी नहीं जा रहा, रानी ने उस क्षुल्लक की करुणाजनक स्थिती को देखकर यथायोग्य सम्मान के साथ राजमहल में लाकर भोजन कराया। भूखा व्यक्ति भोजन मिलने पर अत्यधिक खाकर, पाचन न होने से वमन करता है अतः क्षुल्लक जी ने रानी के ऊपर ही वमन कर दिया, रानी ने बड़े यत्न से शरीर को पोछा तथा क्षमा याचना करने लगी कि मुझसे आहार शुद्धि में कुछ गल्ति हो गई, आप मेरे अपराध को अज्ञानी समझ कर क्षमा करें। अब क्षुल्लक जी अपने असली रुप में आये और बोले- रानी रेवती आपके बारे में मैंने जैसे सुना था उससे अधिक पाया तथा पूज्य गुरुवर ने इसी कारण आपको विशेष आशीष भेजा था, आपका सम्यग्दर्शन अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धा अकाट्य है, जहाँ सारे लोग विभिन्न प्रकार के चमत्कारों को देखकर, आगम वाक्यों को भूलकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश व तीर्थंकर का समवशरण देखने होड़ में दौड़ पड़े थे वहाँ आप एक बार भी नहीं आयी। धन्य है आपका अमूढ़दृष्टी अंग और आपकी निर्विचिकित्सा जिससे आपको बीमार शरीर नहीं अपितु रत्नत्रय से युक्त गुण ही दिखें और आपने ग्लानि रहित होकर सेवा की।

अतः रानी रेवती की अकाट्य अमूढ़ता को देखकर हमें भी अपने वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु पर मूढ़ताओं से रहित होकर अकाट्य श्रद्धा करनी चाहिए क्योकि वे वीतरागी देव ही वास्तव में हमे इस भव से तारने वाले है। कहा भी गया है- एक के साधे सब सधे, सब साधे तो सब नस जाए।

अतः इस संसार सागर में तारने वाले एक मात्र वीतरागी देव ही है अन्य नहीं। ऐसी अकाट्य श्रद्धा को धारण कर आप अपने सम्यग्दर्शन को विशुद्ध बनाते हुए अपनी आत्मा का कल्याण करें।

* * *

"निज गुण अरु पर औगुण ढ़ांके- उपगूहन अंग"

१) जो परदोसं गोवदि णियसुकयं जो ण पवऽदे लोए।

भवियव्व भावणरओ उपगूहण कारओ सोहु ॥४१९ का.अ.॥

– जो सम्यग्दृष्टी दूसरों के दोषों को ढांकता है, और अपने सुकृत को लोक में प्रकाशित नहीं करता, वह उपगूहन अंग का धारी होता है।

२) खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति।

आत्मनो विल्व मात्रापि पश्यन्नपि न पश्यति॥ शु.शो.॥

– जो निंदक, दुर्जन, अधर्मात्मा होते है वे तो धर्म की परवाह किये बिना ही दुसरों के सरसों के बराबर दोषों को देखते है और अपने बेल बराबर दोषों को देखते हुए भी नहीं देखते है।

३) स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम् ।

वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति, तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥ १५ र.श्रा.॥

– स्वरुप से पवित्र मोक्षमार्ग की अज्ञानी और असमर्थ पुरुषों के द्वारा उत्पन्न हुई निंदा को छिपाना उपगूहन अंग कहलाता है।

४) न सतोऽन्यगुणान् हिंस्यान्नासतः स्वस्य वर्णयेत्।

तथा कुर्वन् प्रजायेत नीच गोत्रान्वितः पुमान्॥ शु.शो.॥

– जो दूसरों के विद्यमान गुणों को ढांकता है तथा अवगुणों को प्रकट करता है तथा अपने अविद्यमान गुणों को प्रगट करता है तथा अवगुणो को ढांकता है वह मनुष्य नीच गोत्र का बंध करता है।

५) दुर्जन वचनाङ्गारंदग्धाऽपि न विप्रियं वदत्यार्यः।

अगुरुर्व दह्यमानः स्वभाव गंधं परित्यजति॥

– सज्जन पुरुष, दुर्जनों के वचन रुपी अंगारों से दग्ध होता हुआ भी विरुद्ध नहीं बोलता क्योंकि वह अपना स्वभाव नहीं छोड़ता।

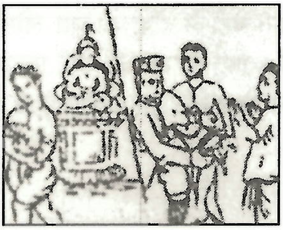

" निज गुण अरू पर औगुण ढांके"
उपगूहन अंग

जो दूसरों के राई के समान गुणों को भी देखकर पर्वत के समान बनाकर उनका गुणगान करते हैं तथा अपने गुणों का आच्छादन करते है तथा साधर्मी के अज्ञानता या प्रमादवश हुए दोषों का आच्छादन करते है तथा स्वयं के दोषों को प्रकट करते है वे पवित्र उपगूहन अंग के धारी सच्चे धर्मात्मा कहलाते है।

धर्मानुरागी भव्यात्माओं ! आज हम मोक्षसुख को सिद्ध करने वाले तथा संसार रुपी समुद्र से पार करा कर आत्मीय गुणों से युक्त मोक्ष तक पहुँचाने वाले जहाज अर्थात् सम्यग्दर्शन के उपगूहन अंग को श्रवण करेंगे।

उपगूहन जिसका कि शास्त्रों में उपवृंहण ऐसा भी नाम मिलता है। 'उपगूहन' हमारे पुनीत हृदय सागर से उत्पन्न वे पवित्र भावनाएँ है जो शुद्ध मोक्ष मार्ग में होने वाली अप्रभावना निंदा को दूर तथा प्रमार्जित करती है जैसे समुद्र में अन्य नदियों के माध्यम से गंदगी, कचरा आ जाता है तो समुद्र की लहरें उन्हें अपने बहाव से एक किनारे कर देती है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन का उपगूहन अंग मोक्षमार्ग पर आरुढ़ अज्ञानी व अशक्य जनों द्वारा उत्पन्न हुए दोषों को अपने विवेक, ज्ञान व पवित्र भावना रुपी लहरों के द्वारा दूर कर देता है।

उपगूहन अंग के धारी सम्यग्दृष्टि का दृष्टिकोण बहुत विशाल होता है वह दूसरे के राई के समान गुणों को देखकर पर्वत के समान बनाकर उनका गुणगान करते हैं तथा अपने गुणों का आच्छादन करते है व साधर्मी के अज्ञानता या प्रमाद वश हुए दोषों का आच्छादन करते है तथा स्वयं के दोषों को प्रकट करते है एवं अपने अंतरंग में धर्म रक्षा की भावना से भरे एवं लोक प्रशंसा, प्रतिष्ठा सम्मान से परे होते है।

जो परदोसं गोवदि णियसुकयं जो ण पवऽदे लोए।
भवियव्व भावणरओ उपगूहण कारओ सो हु ॥ ४१९ का.अ. ॥

जो सम्यग्दृष्टि दूसरों के दोषों को ढांकता है, और अपने सुकृत को लोक में प्रकाशित नहीं करता, वह उपगूहन अंग का धारी होता है।

बंधुओं ! जब हमारे अंदर धर्म के प्रति सच्चा समर्पण जगता है तो फिर हम किसी भी प्रकार से धर्म की निंदा नहीं सुन सकते, क्योंकि समर्पण का अर्थ ही यही है कि जहाँ हमारा कुछ भी न रहे, धर्म की प्रभावना, प्रतिष्ठा ही हमारी प्रभावना व प्रतिष्ठा है और

धर्म की निंदा यानि हमारी निंदा है। जिस प्रकार एक माँ अपनी बेटी के दोषों को चार लोगों के सामने नहीं कहती, पड़ौसी रिश्तेदारों के बीच नहीं कहती अपितु छिपाती है, उसी प्रकार धर्मात्मा अपने साधर्मी के दोषों का आच्छादन करता है क्योंकि गल्ति एक करता है परंतु दोष सारे धर्म पर आता है। कहा भी है -

खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति।
आत्मनो विल्व मात्रापि पश्यन्नपि न पश्यति॥

जो निंदक, दुर्जन, अधर्मात्मा होते है वे तो धर्म की परवाह किये बिना ही दूसरों के सरसों के बराबर दोषों को देखते है और अपने वेल बराबर दोषों को देखते हुए भी नहीं देखते है, तो वह उपगूहन अंग का धारी नहीं अपितु अनुपगूहन दोष से दूषित हो जाता है क्योकि आचार्य समंतभद्र महाराज मे अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ में उपगूहन अंग का स्वरुप बताते हुए कहा है -

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम् ।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति, तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥ १५ र.श्रा.॥

'स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य' अर्थात् उपगूहन अंग का धारी सम्यग्दृष्टि कहता है जो मोक्षमार्ग है वह कभी अशुद्ध नहीं होता, मार्ग तो सदैव शुद्ध ही होता है, जैसे रास्ता कभी गलत नहीं होता उस पर चलने वाले गलत होते है, परंतु देखा यह जाता है कि व्यक्ति स्वयं गिरता है परंतु दोष सड़क को देता है, यह उस की अज्ञानता है कि वह सड़क को ही पैर पटक कर मारता है। एक बार पूज्य आचार्य श्री के संघ में एक माता जी को विहार में चलते समय कांटा लग गया, कच्चा रास्ता था अतः वे जैसे-तैसे पीछे-पीछे, लड़खड़ाते-लड़खड़ाते पहुँची तो पूज्य आचार्य श्री ने पूछा- लेट क्यों आये। उन्होंने कहा महाराज बहुत गहरा कांटा लग गया था, तकलीफ हो रही थी, तो पूज्य आचार्य श्री ने कहा- एक रस का त्याग करना, दूसरी माता जी सुनकर हंसने लगी, बोली महाराज ! एक तो उसे कांटा लग गया, रास्ता भी खराब था फिर भी जैसे-तैसे आ गयी और आप कहते है एक रस का त्याग करो, आपको तो उन्हें आर्शीवाद देना चाहिए कि तकलीफ को समता से सहकर आ गयी, पूज्य आचार्य श्री.ने कहा- देखकर क्यों नहीं चले, जब उसको कांटा नहीं दिखा और यदि कांटे के स्थान पर कोई जीव होता तो उसका तो प्राणांत ही हो जाता, अतः उसका प्रमाद रहा। रास्ता तो रास्ता है अतः कहने का तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्ग कभी खराब या गलत नहीं होता, गलत होता है तो हमारा सोच, हमारा प्रमाद, आलस, हमारी अज्ञानता।

हे भव्य बंधुओं ! इसीलिए आचार्य समंतभद्र महाराज को कहना पड़ा कि धर्म की बुराई, निंदा किसी ज्ञानी से नहीं अपितु अज्ञानी से होती है उन्होंने अगला विशेषण दिया है-'बालाशक्त जनाश्रयाम्' अर्थात् बाल यानि अज्ञानी व अशक्त जनों के द्वारा धर्म की निंदा होती है।

आगम में ५ प्रकार के बाल गिनाए गये है –

१) दर्शन बाल : सम्यग्दर्शन या यथार्थ श्रद्धा से जो रहित है वह दर्शनबाल है।
२) ज्ञानबाल : धर्म का यथार्थ ज्ञान जिसे नहीं है वह ज्ञान बाल है।
३) चारित्रबाल : चारित्र में शिथिलता होना चारित्र बाल है।
४) तप बाल : तपस्या में कमजोर, आलसी होना तप बाल है।
५) व्यवहार बाल : उम्र की अपेक्षा से बाल होना व्यवहार बाल है।

यहाँ पर ज्ञान बाल व व्यवहार बाल ग्रहण करने योग्य है।

पूज्य गुरुवर विमल सागर जी कहते थे-कि हर साधक मोक्षमार्गी है जान बूझकर तो गल्ति करेगा नहीं, क्योंकि वह स्वयं अपनी अंतर प्रेरणा से प्रेरित होकर आत्मकल्याण की भावना लेकर घर छोड़कर आया है, अतः प्रारंभिकता में गल्ति करेगा भी तो मैं उसे उसकी अज्ञानता समझकर प्रायश्चित्त देकर क्षमा कर दूंगा।

एक बार जब मेरी मुनि दीक्षा हुई तो प्रारंभ में, मै क्षुल्लक अवस्था जैसी ही मुद्रा लेकर निकल गया, जैसे ही चित्राबाई ने देखा तो दौड़कर आयी और हमारा हाथ पकड़कर कंधे पर रख दिया। मैंने आचार्य श्री को बताया- तो उन्होंने कहा-कोई बात नहीं, आगे ध्यान रखना।

अतः गुरु दूरदर्शी होते है, उनका ज्ञान तलस्पर्शी होता है, वे वस्तुस्थिति को समझते है, उसी प्रकार हमें भी किसी की mistake को देखकर आँखे नहीं दिखाना चाहिए, यदि कोई पहली बार चौका लगाता है तो उसे समझाने का प्रयास करें।

एक बार जब हम लोग क्षुल्लक अवस्था में परभणी गये तो वहाँ के लोग आहार चर्या से अनजान थे, वे मेरे पास आकर पहले से सब पूछ गये लेकिन Theory मात्र से क्या होता है Practical भी अनिवार्य है, जैसे ही हम मुद्रा लेकर पहुँचे तो वे घबरा गयें और घबराहट में पढ़ा-पढ़ाया पाठ भी भूल गये, काफी देर तक खड़े रहे, २-३ चक्कर भी लगाये परंतु वे लोग वैसे ही खड़े रहे, वहाँ के अध्यक्ष उन श्रावकों से बोले- ओ ताई म्हणा म्हणा यानि बोलो बोलो एक महिला बोली- काय बोलू अर्थात् क्या बोलें। दोनों को ही पता नहीं क्या बोलना है, हमने सोचा अब तो मंदिर चले और मुद्रा छोड़ दे। जैसे ही हम मंदिर जाने लगे तो सभी ने घेर लिया और बोले, महाराज – 'हे काय? आम्ही काही समझत नाही, इथे काही महाराज येत नाही, आम्हाला माफ करा, जर तुमचा उपवास झा़ला तर सगळेच श्रावक उपवास, करुं'। वे लोग काफी प्रयास करते रहे, इतनें में एक आम्मा आयी और बोली- महाराज इच्छामि ! भोजनशाला मध्ये चला, आहार ग्रहण करा- मैं पड़ग गया, चौंके में गया, तो वह पाटे के आगे पीछे करने लगी, तो मैं बैठ गया, अब आधा, पौन घंटा तो हो गया था इसलिए मैंने सामने रखी थाली और ग्लास की तरफ इशारा किया और थाली में पैर रख दिये, चलो पाद प्रक्षालन हो गया, अब अर्घ का नंबर आया तो उन्होंने भगवान का अर्घ चढ़ा दिया मैने कहा- ठीक है भगवान में ही हमारी गिनती सही। जैसे-तैसे आहार

निरंतराय हो गया। कहने का तात्पर्य यह है कि गल्तियाँ अज्ञानता में ही होती है। अतः हमें उनकी श्रद्धा, भक्ति का सम्मान करना चाहिए उन्हें सान्त्वना देकर समझाना चाहिए।

बंधुओं ! कहने का तात्पर्य यह है कि अज्ञानता में गल्ति होने पर हंसी न उड़ाए, प्रायः दुनियाँ सतरंगी है, रंग बदलती रहती है और हताश कर देती है फिर लोग घबराकर स्वप्न में भी उस कार्य को करने का साहस नहीं करते अतः हमारा कर्तव्य है कि उसे हम अपने ही रंग में मिला ले अर्थात् उन्हें ज्ञान, जानकारी दे, न कि निंदा करें, तभी हमारा उपगूहन अंग सार्थक होगा।

अतः उपगूहन अंग का धारी महान ज्ञानी होता है वह दूसरे के अज्ञानता वश हुए दोष को देखकर हंसता नहीं है क्योंकि वह विचारता है कि ज्ञान सभी के पास समान नहीं होता, कम ज्ञान वाले की निंदा करना, ज्ञान का अभिमान है और अभिमान करने से गुणों का ह्रास होता है, अतः वह गुणों की वृद्धी के लिए निरंतर स्वयं के दोषों का प्रकटीकरण तथा दूसरों के दोषों का आच्छादन करता है।

सद्गुण औरो के मैं देखू निंदा नहीं करुं,
अपनी निंदा करके सद्गुण से मैं नित्य भरुँ।
उपगूहन यह अंग हो सार्थक मेरे जीवन में,
अतिचार के लगे न कांटे सम्यक् उपवन में।।

अगला विशेषण दिया है अशक्य अर्थात् कमजोर व्यक्ति, शक्ति हीन।

प्रिय बंधुओं ! बीमारी के कारण, जिस व्यक्ति के शरीर में कमजोरी होती है वही उसकी परिस्थिती को समझ सकता है अन्य स्वस्थ व्यक्ति नहीं, स्वस्थ व्यक्ति तो बस यही कहते है – यह सामायिक, प्रतिक्रमण आदि टिक कर करता है, लेट कर करता है आदि पर ऐसे व्यक्ति उपगूहन अंग के धारी नहीं हो सकते।

जो दूसरे की परिस्थिती को न समझकर मात्र दूसरे की निंदा करने में तत्पर रहता है ऐसे लोगों को अच्छी तरह से समझाना चाहिए।

एक बार पूज्य आचार्य धर्मसागर जी महाराज के पास कुछ समाज के व्यक्ति आये और बोले हम फलाने महाराज को कपड़ा पहना देंगे, उनकी चर्या अच्छी नहीं है, वे बहुत कुछ कहते रहे। तब पूज्य धर्मसागर जी महाराज ने उनसे पूछा- एक बात बताओं वह नग्न रहता है, बोले –हाँ, केशलौंच करता है- हाँ, कर पात्र में एक बार ही दिन में खाता है, तुमसे मांगता तो नहीं, बोले –हाँ, नहीं मांगते, तो धर्म सागर जी महाराज नें उन्हें फटकारते हुए अपनी तेजस्वी वाणी में कहा- तुमसे तो अच्छा है, अभक्ष्य तो नहीं खाता, घर में तो नहीं रहता कम से कम साधु तो है। तुम श्रावक हो पहले अपनी क्रियायें तो देखों, साधु क्या करता है क्या नहीं, यह उनके गुरु जानते है, तुम कौन होते हो कपड़े पहनाने वाले बड़े आये, चलो यहाँ से।

अतः बंधुओं ! अपने उपगूहन अंग की रक्षा के लिए यदि कभी शक्ति विहीन कमजोर लोगों का लोकोपवाद का अवसर आये तो नमक मिर्ची का नहीं, अपितु जल का काम करे उसे ढकने का प्रयास करें। कहा भी है-

पर निंदा की चर्चा में भी, रस मत लेना ओ प्राणी,
परिस्थिति भी समझो उसकी, कहती है माँ जिनवाणी।
निंदा सुनकर कुछ न बोले, वो भी एक समर्थक है,
साधर्मी के दोष ढांक दो, उपगूहन तब सार्थक है।।

हे आत्मन् ! मोक्ष रुपी क्षितिज की उँचाई तक पहुँचने के लिए निंदा नहीं करना जितना आवश्यक है उससे ज्यादा आवश्यक है निंदा नहीं सुनाना क्योंकि हम सुनते है इसीलिए सामने वाले को सुनाने का chance मिलता है हम सुने ही न, साफ मना कर दें कि हमारी दुःश्रुति का त्याग है तो मुझे विश्वास है कि वह दुबारा आपके पास नहीं आयेगा, फिर किसी की निंदा करने से उसका बुरा हों या न हो, पर अपना बुरा तो निश्चित ही होता है क्योंकि जिस प्रकार यदि कोई व्यक्ति दूसरों को मारने के लिए अपने हाथ में गर्म लोहे का गोला उठाता है तो दूसरा उससे जले वा न जले परंतु मारनेवाले का हाथ तो स्वयमेव जल ही जाता है कहा भी है -

मन खराब है माथा खराब होगा,
करो बुराई पर की, बुरा स्वयं का होगा।

बंधुओं ! जब सम्यग्दृष्टि इस प्रकार से विचारता है तो मक्खन की तरह कीमती सकारात्मक सोच उसे मिलती है, वह निंदा करने को बुरा, निंद्य कार्य तथा दूसरे के गुणों को प्रकट करने को अच्छा मानता है क्योंकि आगम में भी कहा गया है कि-

न सतोऽन्यगुणान् हिंस्यान्नासतः स्वस्य वर्णयेत्।
तथा कुर्वन् प्रजायेत नीच गोत्रान्वित: पुमान्।।

जो दूसरों के विद्यमान गुणों को ढाकता है तथा अवगुणों को प्रकट करता है वह मनुष्य नीच गोत्र का बंध करता है जबकि इससे विपरीत जो व्यक्ति पर प्रशंसा, आत्मनिंदा, सद्गुणों का उद्भावन तथा असद् गुणों का आच्छादन तथा नम्रवृत्ति व मद का अभाव अर्थात् अनुत्सेक भाव रखता है वह उच्च गोत्र का बंध करता है। अतः जीवन में निंदा नहीं अपितु नम्रवृत्ति, सदा मद का अभाव होना चाहिए।

बंधुओं ! पूज्य आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज कहा करते थे कि उपगूहन अंग के पालन के लिए हृदय की सहिष्णुता अत्यधिक आवश्यक है क्योंकि जिसने कटु वचन रुपी शूल की वर्षा सहन की है तो मुझे विश्वास है की वह प्रशंसात्मक वचन रुप फूल की वर्षा को सहन करेगा। पचा सकेगा। अतः पहले तो बुराईयाँ मिलेगी ही, बाद में प्रशंसा मिल भी सकती है और नहीं भी। फिर भी हमें अपना कर्तव्य नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि

महापुरुष कंठगत प्राण होनेपर भी कर्तव्य से विमुख नहीं होते उसे पालन करते है क्योंकि -

कर्तव्यो से न डिगें, प्राण भले ही जाए,
कर्तव्यशील व्यक्ति को प्रभुवर गोद में बिठाए।
चमड़ी का कोई मोल नहीं, कर्तव्यों का मोल,
ऐसे व्यक्ति का ही जीवन, जग में है अनमोल ।।

बंधुओं ! उपगूहन अंग व्यक्ति को कला संपन्न बनाता है, जिस प्रकार माँ बच्चे की बीमारी को दूर करने के लिए कड़वी दवाई को भी, बातों में लगाकर, मीठी सामग्री के साथ खिला देती है, तो बच्चा सहजता में खा लेता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानी भी साधर्मी की गल्ति को देखकर समूह में तो ढाकता है परंतु एकांत में हितैषी भावना से प्रेरित होकर उसे गल्ति को दूर करने का उपाय बताता है। आप को यदि कोई व्यक्ति आपकी गल्ति बताए तो वह आपको नीम की तरह कड़वी लगती है, रुचती-पचती नहीं। दुनियाँ बड़ी विचित्र है,परंतु सज्जन पुरुष बार-बार समझाने के नये-नये तरीके निकालते है उसे सम्हालने का प्रयास करते है। कहा भी है-

दुर्जन वचनाङ्गारंदग्धौऽपि न विप्रियं वदत्यार्यः।
अगुरुर्व दह्यमानः स्वभाव गंधं परित्यजति ।।

सज्जन पुरुष, दुर्जनों के वचन रुपी अंगारों से दग्ध होता हुआ फिर भी विरुद्ध नहीं बोलता क्योंकि वह अपना स्वभाव नहीं छोड़ता, अपना कर्तव्य नहीं भूलता और कोई बात न माने तो वह सज्जन पुरुष रुष्ट भी नहीं होता, वह सहनशील, सहिष्णु गुण से संपन्न होता है वह पहले से ही जानता है कि आवश्यक नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति हमारी बाते मानें, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की सोच अपनी-अपनी, अलग-अलग है। कहा भी है - 'many man many minds' अर्थात् जितने प्रकार के लोग होते है उनके विचार भी उतने ही प्रकार के होते है अतः वे पक्के होकर जाते है कि सामने वाला चार बातें भी सुनायेगा तो सुन लेंगे, फिर भी नहीं मानेगा तो-

"माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ" विपरीत वृत्ति वाले के प्रति माध्यस्थ भाव धारण कर लेगे अर्थात् न राग न द्वेष।

बंधुओं ! संसार में पाप व पापी ये दो वस्तुएँ है एक बार पापी सुधर सकता है परंतु पाप नहीं। अतः व्यक्ति की गल्ति, पाप को देखकर पाप से घृणा करों परंतु पापी से नहीं, क्योंकि

करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ही सिल पर होत निशान ।।

प्रयास करने से, जब पत्थर पर भी निशान बन जाते है तो निश्चित ही आपका आत्मविश्वास के साथ किया गया उपगूहन उस पापी को भी परमात्मा बना देगा परंतु इसके लिए आवश्यक है हमारा सकारात्मक दृष्टिकोण। क्योंकि -"जब हमारा दृष्टिकोण किसी

व्यक्ति के प्रति खराब होता है तो उसकी अच्छी चेष्टा भी हमें खराब लगती है, और जब हमारा दृष्टिकोण पवित्र होता है तो हर पापी व्यक्ति के अंदर ही क्या, पत्थर में भी परमात्मा झलकते है।''

परंतु दुनियाँ में लोग जब दुसरों के दोषों को देखकर उन पर एक अंगुली उठाते है तो वे शायद यह भूल जाते है कि शेष तीन उंगलियाँ स्वयं उनकी तरफ है अतः यदि सामनेवाला १ गुना बुरा है तो आप निश्चित ही तीन गुने ज्यादा बुरे है। कहा भी है-

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिल्या कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय ।।

अतः देखना ही है तो अपने दोषों को देखों, क्यों दुसरों के दोष देखकर अपना मन खराब करते हों, निंदा करके तो मात्र कर्म का आस्त्रव और बंध ही होने वाला है।

भव्य आत्माओं ! सच्चा सम्यग्दृष्टि पहली बात तो गाँधी जी के तीन बंदरों की तरह न तो गलत सुनता है, न ही गलत कहता है और न ही गलत देखता है। वह अपने गुणों को वृद्धींगत करने के लिए सदैव गुणग्राही दृष्टि से गुणों को ही देखता है अतः उपगूहन अंग का धारी आत्मा सदैव हंसवत् अवगुणों के बीच भी गुणग्रहण करता है और कदाचित् देखने में दोष आ जाये तो पहले धर्मात्मा की तरह प्यार, वात्सल्य से समझाता है और नहीं मानता है तो मीठी डांट लगाता है उस समय उसे वे बाते, शिक्षाएँ खराब लगती है परंतु भविष्य में वह उपकार मानता है इसलिए कहा भी है -

Roots of education are bitter but its results are sweet.

अर्थात् शिक्षा की जड़े कड़वी परंतु फल मीठे होते है अतः -

शिक्षा से तुम न डरो, शिक्षा सुखी बनाय।
कड़वी जड़े जरुर है, फल तो मिष्ट प्रदाय ।।

प्रिय बंधुओं ! जिस देश, समाज, राष्ट्र, परिवार व संघ में उपगूहन अंग से संपन्न एक व्यक्ति भी होता है तो वहाँ संगठन, प्रेम, एकता रुपी नदियाँ सदैव प्रवाहमान होती हुई दृष्टिगोचर होती है क्योंकि एक दूसरे पर अंगुली उठाने से समस्या सुलझती नहीं अपितु विसंवाद का रुप लेकर आपसी मन मुटाव का कारण बनती है और धीरे-धीरे आपसी भाईचारे, प्रेम, वात्सल्य में अंतर आता है और अंत में भयानक विघटन का रुप प्रगट होता है, अतः उपगूहन अंग टूटे रिस्तों को जोड़ता है जबकि निंदा रिश्तों को तोड़ती है।

विसंवाद अनुपगूहन से बढ़ता है यह जान।
उपगूहन का धारी है जो पाता है सम्मान ।।

जब व्यक्ति अपने निजी स्वार्थो को तिलांजली देता है, मान-अपमान की परवाह किये बिना मात्र अपने कर्तव्यों का ध्यान रखता है तब वह गुरु के पास जाकर जानकारी देता है कि फलाना व्यक्ति ऐसे-ऐसे दोष करता है ताकि गुरु उसे यथायोग्य रीति से समझा दे। गुरु को जानकारी देना निंदा नहीं कहलाती अपितु संघ के एकता, संगठन और

उस व्यक्ति के भविष्य की उज्ज्वलता का प्रतीक है। जबकि अन्य लोगों से कहना निंदा कहलाती है तथा निंदा यानि चुगली आपसी द्वेष को बढ़ाने वाला ईंधन है। एक नशा, आदत है जिसको किये बिना निंदक मनुष्यों को चैन नहीं पड़ती। अतः ऐसे मनुष्य सज्जन, सम्यग्दृष्टि नहीं अपितु दुर्जन मिथ्यादृष्टि की श्रेणी में आते है।

हे विज्ञात्माओं ! उपगूहन का अर्थ है जीवन में उत्तमक्षमादि, धर्म, संगठन, एकता, वात्सल्य, साधना आदि आत्मीय गुणों की, धर्म की वृद्धी करना। पर अनादिकाल के बुरे संस्कारों के वश गुणग्रहण दृष्टि सहज नहीं हो पाती एवं यह बात भी जगप्रसिद्ध है कि-

' Well wishes peoples are not received with easiness '

अर्थात् दुनियाँ में हितैषी लोग सहजता से नहीं मिलते इसलिए ऐसे हितैषी भावना रखने वाले व्यक्ति के साथ अपनी दैनिक चर्या का संचालन करें, जो आपको आपके दोषों से अवगत करा सके, उन्हें दूर कर सकें, आलोचक प्रायः बुरे ही दिखते है परंतु वे बुरे नहीं । वे सच्चे मायने में धर्मात्मा होते है। वे हमें कटु बोलकर भी यही सिखाते है कि जैसे तुम्हें खराब व्यवहार, निंदा, अपमान, रुखी भाषा पसंद नहीं है तो सोचो वह दुसरों को पसंद कैसे हो सकती है। अतः हमें श्रेष्ठ, गुणवृद्ध, गुणवान लोगों की संगति में उठना-बैठना चाहिए क्योंकि-

उत्तमः सह संगत्या पुमानाजोति गौरवम्।
पुष्पैश्च सहितस्तन्तुरुत्त माङ्गेन धार्यते ।।

उत्तम लोगों की संगति करने से मनुष्य गौरव व आदर्शपने को प्राप्त करता है तथा अवगुणों के अभाव को प्राप्त होता है

बंधुओं ! सज्जन पुरुषों की संगति आत्मोन्नति, विकास, प्रगति और ज्ञानवृद्धी का श्रेष्ठ उपाय है क्योंकि 'विनु सत्संग विवेक न होई' सज्जनो, गुणाधिक व्यक्तियों की संगति के बिना विवेक व हेयोपादेय का ज्ञान नहीं होता अतः चाहे लौकिकता का मार्ग हो या पारमार्थिकता का मार्ग, दोनों में गल्ति से अवगत कराने वाले व्यक्ति की संगति से बुद्धी की जड़ता दूर हो जाती है। अवगुण पलायन करते है तथा मन में सभी प्राणियों के प्रति सम्मान, आदर, प्रशंसा व आपसी भाईचारे की भावना जाग्रत होती है क्योंकि निंदा करनेवाले व्यक्ति की दृष्टिमें स्वय के सिवाय अन्य दूसरा कोई श्रेष्ठ नहीं है, तो फिर दूसरों के प्रति सम्मान, प्रशंसा, आदर, वात्सल्य भाव कैसे रख सकता है।

अतः उपगूहन अंग हमें पूज्य पुरुषों का सम्मान करना, उनके ही समान मोक्ष मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है। सभी में गुणग्रहण की भावना को जाग्रत कर, हमें श्रेष्ठ पद पर जिनेन्द्रभक्त सेठ की तरह आसीन कराता है।

सौराष्ट्र देश के पाटलीपुत्र नगर में धर्मवत्सल राजा यशोधर अपनी रानी सुसीमा के साथ राज्य का संचालन करता था, उनका सुवीर नामक एक दुर्व्यसनी पुत्र था अतः कहाँ

तो धर्मात्मा पिता और कहाँ व्यसन में दत्तचित्त पुत्र। इसलिए कहा गया है कि व्यक्तियों, प्राणियों की प्रवृत्ति अपने-अपने कर्मो के अनुसार होती है। अपने पिता के द्वारा विशेष सम्मान, स्थान न मिलने के कारण वह अब चोरी करने लगा। सही कहा है- जुआ खेलने से-

द्युते दश प्रणश्यन्ति धर्मः श्री सुमति सुखम्।
सत्यं शौचं प्रतिष्ठा च निष्ठा विश्वास सद्गतिः।।

धर्म, लक्ष्मी, सुबुद्धि, सुख, सत्य, शौच, प्रतिष्ठा, श्रद्धा, विश्वास और सद्गति नष्ट होती है तथा सुबुद्धि, प्रतिष्ठा के अभाव में वह फिर और गलत काम करता है अतः जुआ के लिए पैसा चाहिए, इसलिए वह चोरी करने लगा।

ताम्रलिप्त नगर में एक जिनेन्द्रभक्त नाम का धर्मात्मा सेठ अपनी सात मंजिला महल में धर्माराधना करते हुए तथा वहाँ स्थित पार्श्वनाथ भगवान के चैत्यालय में समय व्यतीत करता था, एक बार सेठजी ने अपनी कमाई से वैडूर्य रत्न का छत्र बनवाकर चैत्यालय में स्थित पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा पर चढ़ाया। सुवीर की दृष्टि अब उसी पर थी कि कैसे मैं छत्र को चुराऊँ। उसने अपनी यह बात अपनी चोर मण्डली के बीच रखी, तब एक सूर्य नाम का चोर बोला अरे ! यह तो मेरे बाएँ हाथ का काम है परंतु सात मंजिला महल पर कैसे जाए। नगर के माननीय सेठ का महल है, हर जगह पहरेदार है जाना कठिन है अतः उपाय निकाला कि सेठ धर्मात्मा है अतः मैं क्षुल्लक का वेष धारण कर लेता हूँ और वह चोर क्षुल्लक अर्थात् एक लंगोटी व एक दुपट्टा धारी क्षुल्लक बन गया और उपवास अर्थात् ५-६ उपवास कर लिए।

हे भव्य ! ध्यान दीजिए, व्यक्ति पाप कर्मों की सिद्धि के लिए कितना तप कर लेता है पर उतना धर्म आत्मा के लिए नहीं कर पाता। कहा भी जाता है कि -

Mortification is done for self welfare not for wealth & prosperity

अर्थात् तप आत्म कल्याण के लिए किया जाता है, ऋद्धि-सिद्धि के लिए नहीं। शास्त्रों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि रावण ने बहुरूपिणि विद्या की सिद्धि के लिए जितनी तपस्या की थी उतनी तपस्या यदि वह आत्म कल्याण के लिए करता तो उसे मोक्ष हो जाता।

बहुरुपियाँ क्षुल्लक जी की साधना उपवास की चर्चा चारों ओर फैल गई, लोग उनके दर्शन करने आने लगें। धर्मानुरागी जिनेन्द्रभक्त सेठ जी भी पारमार्थिक गुणों की खुशबू से प्रभावित हो, उनकी सेवा, वैय्यावृत्ति, आहार दान हेतु उनसे, प्रार्थना कर अपने चैत्यालय में ले आये, परंतु एक दिन अचानक सेठ जी को बाहर जाना पड़ा, जब उन्होंने क्षुल्लक जी से अनुमति मांगी तथा वही रूके रहने की प्रार्थना की, क्षुल्लक जी की भावना पूरी हुई, वे तो यही चाहते थे कि सेठ यहाँ से शीघ्र जावें और मैं अपना काम पूरा करुं। सेठ जी के निकलते ही क्षुल्लक जी वैडूर्य मणि लेकर रवाना हो गये, पर रात्रि के समय वैडूर्यमणि की

चमक को देखकर कोतवाल भी पीछे लग गया, अभी सेठ जी नगर के बाहर ही पड़ाव डाले थें और क्षुल्लक जी भागते-भागते उस पड़ाव में घुस गये, सेठ जी ने क्षुल्लक जी को देखा तो बाहर आ गये तथा शोरगुल की आवाज सुनकर बोले क्या बात है? उन्होंने कहा- आपके पड़ाव में चोर मणि लेकर घुस गया है वे क्षुल्लक नहीं अपितु चोर है।

बंधुओं ! धर्मात्मा सेठ ने विचारा, अरें ये तो धर्मात्मा के वेष में है, यह एक मात्र धर्मात्मा की ही नहीं अपितु सारे धर्म और धर्मात्माओं की हंसी होगी, कालान्तर में लोग प्रत्येक त्यागी व्रती धर्मात्मा पर अंगुली उठायेंगे कि जैन साधु भी चोर होते है अतः उन्होंने अपने हृदय को विशाल ठोस बनाया और कहा- आप क्या कह रहे है ये चोर है, अरे साधु कभी चोरी नहीं करते है, यह छत्र मैंने ही मंगवाया था। आप क्षमा मांगिए जो आपने धर्मात्मा के प्रति गलत भावना की। लोगों ने अपने आप को धिक्कारा तथा क्षुल्लक जी से क्षमा याचना की और घर चले गये। क्योंकि धर्म का लक्षण होता है -

धर्मात्मा नहीं देखते, औरो के अपराध।
दिख जाए तो दूर करे, नहीं डालते खाद ।।

विवेक रुपी आभूषण को धारण करने वाले सेठ जी ने क्षुल्लक जी को एकांत में बैठकर समझाया- देखों तुमने पवित्र मोक्ष मार्ग व संयमी का दिखावटी वेष बनाकर बड़ा गलत काम किया है, अरे ! जिस संयम से अनेक भवों के संचित कर्म निर्जीण होते है, जिसे पाकर कर्म धोया जाता है, तुमने इतने पवित्र रत्नत्रय स्वरुप बहुमूल्य रत्न, वस्तु को प्राप्त करके उन्हें पत्थर,कंकण की तरह उपयोग किया, सोचों किस कर्म का आस्त्रव बंध होगा और तुम अपने पाप धोने कहाँ जाओगे। सही कहा है-

"सज्जन पुरुष निर्व्याजं सानुकम्पा हि सार्वाः सर्वेषु जन्तुषु।"

सज्जन पुरुष हितैषी भाव से समस्त प्राणियों पर समदृष्टि से निष्कपट दया करते हैं चाहे वह प्राणी उनका उपकार करने वाला हो या अपकार। जिस प्रकार सुवर्ण, तपायें जाने पर भी अपनी कांति, बहुमूल्यता को नहीं छोड़ता है उसी प्रकार अपना अनिष्ट किये जाने पर भी सज्जन पुरुष जिनेन्द्रभक्त सेठ ने अपनी सज्जनता, सम्यग्दर्शन के उपगूहन अंग को नहीं छोड़ा और उसे समझाया जिससे वह चोर एक सच्चा धर्मात्मा बन गया।

बंधुओं ! जीवन में कभी किसी की निंदा नहीं करना चाहें वह कोई भी क्यों न हो। बन सके तो धर्मात्मा के दोषों को ढाककर उसे प्यार व वात्सल्य से समझाना क्योंकि वात्सल्य से तो पत्थर भी पिघल जाता है फिर वह तो इंसान है जबकि निंदा करने से आवश्यक नहीं है कि वह दोषों को छोड़ेगा, क्योंकि निंदा करना बड़ा पाप है जो हमें दुर्गतियों में भ्रमण कराने का मुख्य हेतु है। अतः जीवन में कष्ट सहकर भी धर्मात्मा के दोषों को ढाकना, समाप्त करना तथा उसे सही रास्ता, मार्ग बताना ही उपगूहन अंग की प्रधान भूमिका है अतः आप अपने जीवन में इस उपगूहन अंग को धारण कर स्वपर कल्याण में प्रवृत्त हो।

" स्थितिकरण अंग से प्राप्त करो निज व पर आत्मस्थिरता "

१) काम क्रोध मदादिषु चलयितु मुदितेषु वर्त्मनोन्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्वा स्थितिकरण मपि कार्यम्।। २८ पु.सिध्द।।

– प्रायः व्यक्ति कामाग्नि के उत्पन्न होनेसे, क्रोध ज्वाला प्रगट होने पर या झूठे क्षणिक ज्ञानादि के मद में आकर या लौकिक विषयों की प्राप्ति में लोभ उत्पन्न होने पर मोक्ष मार्ग से च्युत हो जाते है, अतः सम्यग्ज्ञान, वात्सल्य, प्रेम आदि गुणों से दूसरों को तथा आत्मीय सम्यग्ज्ञान आदि के द्वारा स्वयं को स्थिर करना स्थितिकरण' अंग है।

२) दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते।।१६ र.श्रा.।।

– दर्शन और चारित्र से चलायमान साधक को मोक्षमार्ग में धर्मवत्सलता के साथ पुनः स्थिर कर देना स्थितिकरण अंग है।

३) अतत्वज्ञेऽपि तत्त्वज्ञं भवितव्यं दयालुभिः।
कूपे पिपतिषु र्बालो न ही केनाऽप्युपेक्षते।।

– तत्वज्ञानियों को चाहिए कि जिस प्रकार कुयें में गिरते हुए बालक को सभी देखने वाले बचाने का प्रयत्न करते है उसी प्रकार मिथ्यात्व मे पड़ते हुए प्राणियों को जैसे बने वैसे बचाने का प्रयत्न करें।

४) सत्तू वि होदि मित्तो, मित्तो विय जायदे तहा सत्तू।
कम्म विवाग वसादो, एसो संसार सब्भावो।। ५७ वा.अ.।।

कर्म कि विचित्रता से जहाँ शत्रु, मित्र हो जाता है तथा मित्र, शत्रु हो जाता है ऐसा संसार का स्वभाव बड़ा विचित्र है।

५) मोह ण छिज्जदि अप्पा, दारुण कम्मं करेदि बहुवारं।
ण हु पावदि भवतीरं किं बहुदुक्खं वहेदि मूढमदी।। ६३ र.सा.।।

– जो आत्मा मोह को छोड़े बिना, कठोर भी तप करता है वह संसार का किनारा नहीं पाता अपितु बहुत सा दुःख भोगता है।

" स्थितिकरण अंग से प्राप्त करो निज व पर आत्मस्थिरता "

जो मनुष्य अप्रिय वचन बोलकर भी दोषों को दूर करता हैं तो वह हमारा कल्याणकारी, परम हितैषी ही है, क्योंकि आगम में कहा है – शिष्यों के दोषों का निग्रह करने वाला कठोर हृदयी तथा लातों से ताड़ित करने वाला ही सच्चा गुरु है, क्योंकि आत्महित की भावना के साथ परहित करने वाले ऐसे गुरु अतिशय दुर्लभता से प्राप्त होते है, वे ही निःस्वार्थी है, बाकी सारा संसार तो स्वार्थ पिशाच से ग्रसित है।

बंधुओं ! आज हम उन्मार्ग में जाती हुई अपनी तथा साधर्मी की आत्मा को पुनः दर्शन ज्ञान चारित्र में स्थापित करने वाले, दुष्ट रुपी विषधर के विष का नाश करने वाले, सम्यग्दर्शन के स्थितिकरण अंग को जीवन में उतारने का प्रयास करेंगे।

स्थितिकरण अंग एक ऐसी परमौषधी है जो हमारे सम्यक्त्व में आयी हुई अदर्शन, अनास्था, अश्रद्धा रुपी बीमारी तथा चारित्र में आयी हुई शिथिलता, प्रमाद, अनाशक्तता आदि रोगों को जड़ से दूर करता है उस औषधी में वात्सल्य, प्रेम, सेवा आदि अवयव होते है जिसे सम्यग्दृष्टि विवेक व ज्ञान रुपी पात्र में रखकर यथासमय, यथास्थान दर्शन व चारित्र से चलायमान रोगी को देता है, जहाँ लौकिकता में कहा जाता है कि गिरते को उठाना, उसका उपकार करना चाहिए उसी प्रकार पारमार्थिकता में जब व्यक्ति के अंदर अनुकंपा, संवेग भाव जाग्रत होता है तो साधक के अंदर उठो और उठाओं, भगवान महावीर के संदेश जिओ और जीने दो, आत्मा की उन्नति के मार्ग पर चलो और चलने दो, उन्मार्ग से स्वयं हटो व दूसरों को हटाओं , निभने और निभाने, मोक्षमार्ग में स्थिर रहने और स्थिर करने, मोक्षमार्ग में बढ़ने और बढ़ाने, आत्मीय गुणों को प्राप्त करने तथा कराने के भाव उत्पन्न होते है यही स्थितिकरण अंग है। पुरुषार्थ सिध्दियुपाय में आचार्य अमृतचंद्र महाराज ने स्थितिकरण अंग के विषय में कहा है।

काम क्रोधा मदादिषु चलयितु मुदितेषु वर्त्मनो न्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरण मपिकार्यम्।। २८ पु.सि.।।

प्रायः व्यक्ति कामाग्नि के उत्पन्न होने से क्रोधज्वाला के प्रगट होने पर या झूठे क्षणिक ज्ञानादि के मद में आकर या लौकिक विषयों की प्राप्ति में लोभ उत्पन्न होने पर, मोक्ष मार्ग से च्युत हो जाते है, अतः सम्यग्ज्ञान, वात्सल्य, प्रेम आदि गुणों से दूसरों को तथा आत्मीय सम्यग्ज्ञान आदि के द्वारा स्वयं को स्थिर करना, स्थितिकरण अंग है।

बंधुओं ! स्थितिकरण अंग आत्मा का निजधर्म, गुण है। जो व्यक्ति उपगूहन के साथ-साथ स्थितिकरण करता है वही सच्चा धर्मात्मा है वही सच्चा मोक्षमार्गी है तथा उसी का सम्यग्दर्शन निर्मलता को प्राप्त हो सकता है, यह अंग हमें शिक्षा देता है कि हम देश, समाज, राष्ट्र, संघ संचालन कैसे करें ? एकता -संगठन को कैसे कायम रखें? आपसी भाईचारे प्रेमभावनाओं को कैसे स्थिर रखें? व कैसे वृध्दिंगत करें? यह एक प्रकार का संविधान है जिसके बिना कुशल संचालन, एकता संगठन, भाईचारे की भावना बनी रह सकती है। यह निश्चित है कि पाँचो अंगुलियाँ बराबर नहीं होती तथा ज्ञान का दायरा भी सभी का समान नहीं होता अतः त्रुटी होना संभव है अपने साधर्मी के दोषों को ढ़ंकना अच्छा है परंतु मात्र इतना ही पर्याप्त नहीं। चार लोगों के सामने धर्म की रक्षा के लिए धर्मात्मा के दोषों को भी ढ़ंकना ही चाहिए परंतु बाद में एकांत में उसे समझाना चाहिए कि भैय्या, आप से यह दोष हो गया, इस प्रकार से आपका सम्यग्दर्शन या सम्यग्चारित्र दूषित हो जायेगा अतः आप इसका सुधार कर ले तो बहुत अच्छा होगा। आपका यह सम्यक चिंतन एक भटके व्यक्ति को रास्ते पर ला सकता है यही स्थितिकरण का हेतु बनेगा। इसलिए कहा है मात्र उपगूहन ही पर्याप्त नहीं है उपगूहन के साथ-साथ स्थितिकरण भी अनिवार्य है, स्थितिकरण सामने वाले व्यक्ति की मिस्टेक (mistake) को जड़ से समाप्त कर देगा और जब हमारी mistake जड़ से समाप्त हो जायेगी तभी तो हमारे पात्र में अमृत भर पायेगा, अन्यथा तो वह बढ़ती ही जायेगी क्योंकि एक छोटी सी चिंगारी ही विकराल अग्नि का रुप धारण करती है। एक विष की बूंद ही सारे गुणों को नष्ट कर देती है। कहा भी है-

अपेया पस्य पीयूषगर्गरी गर बिन्दुना, गुणान् गुरुतरान् सर्वान् दोष स्वल्पोऽपि इषेत्।

अर्थात् जिस प्रकार एक विष की बूंद सारे अमृत को विषमय कर देती है उसी प्रकार एक छोटा सा भी दोष बड़े-बड़े गुणों को दूषित कर, दोषों को बढ़ाता है।

अतः जो मनुष्य अप्रिय वचन बोलकर भी दोष दूर करता है तो वह हमारा कल्याणकारी परम हितैषी ही है, क्योंकि आगम में कहा है कि-

कडुय फरुसेहिं ते हु अदिदुल्लहालोए।

शिष्यों के दोषों का निग्रह करने वाला, कठोर हृदयी तथा लातों से ताड़ित करने वाला ही सच्चा गुरु है क्योंकि आत्महित की भावना के साथ परहित साधने वाले ऐसे गुरु, महापुरुष अतिशय दुर्लभता से प्राप्त होते है। वे ही निःस्वार्थी है, बाकी सारा संसार तो स्वार्थ पिशाच से ग्रसित है। स्थितिकरण अंग के स्वरुप का वर्णन करते हुए आचार्य समंतभद्र महाराज ने कहा है -

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते ।।१६ र.श्रा.।।

दर्शन और चारित्र से चलायमान साधक को मोक्षमार्ग में धर्मवत्सलता के साथ पुनः उसी में(मोक्षमार्ग में) स्थिर कर देना स्थितिकरण अंग कहलाता है।

यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं कि दुनियाँ के लोग प्रायः भौतिकता, अंधविश्वास और चमत्कारों की दुनियाँ में समय यापन कर रहे है लोगों की श्रद्धा व चारित्र के प्रति प्रायः उतनी दृढ़ता नहीं रह पाती, थोड़ी सी विपरीत परिस्थिति के आते ही अपने स्वार्थ की सिद्धि न हो पाने पर उनका श्रद्धा अर्थात् विश्वास रुपी धागा टूटने लगता है और लोग कहने लगते है कि अब मेरी श्रद्धा नहीं रही, तो ऐसे लोगों को धर्मवत्सलता के साथ समझाने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि 'एक श्रद्धा मात्र सम्हालना सबसे बड़ी अहिंसा है' बाहर से जीवों की रक्षा करना तो सहज, सरल है परंतु दर्शन व चारित्र धर्म से डिगते जीवों की आत्मरक्षा अत्यंत कठिन है जिसके अंदर धर्मवत्सलता होती है वह व्यक्ति अपने साधर्मी को ऐन-केन प्रकारेण समझाने का प्रयत्न करता है कि भैय्या, देव-शास्त्र-गुरु के ऊपर आस्था रखने से हर कार्य की सिद्धि होती है तथा अनास्थापूर्वक की गई पूजा आदि सब निरर्थक है। आस्था के बिना मुक्ति संभव नहीं है, धर्म भी भारभूत लगता है, उपलब्धियाँ कोसो दूर चली जाती है, हमारा सम्यग्दर्शन जो सुखों का निधान है वह समाप्त हो जाता है, मंगलकारी कार्य भी अमंगलकारी हो जाते है। जबकि आस्था, श्रद्धा हमें इहलोक व परलोक में उपलब्धियों से भर देती है।

ध्यान दीजिए ! यदि आपने ऐसा उपकार किसी व्यक्ति के प्रति किया तो वह भवों-भवों तक आपके उपकारों को मानेंगा कि आपने हमारे विश्वास को टूटने से बचा लिया, क्योंकि अनेकों भवों के पुण्योदय से आस्था रुपी महारत्न प्राप्त होता है और यदि वह रत्न एक बार छूट जाए तो उसका पुनः मिलना अत्यंत दुर्लभ है कहा जाता है - महासमुद्र में गिरे लौकिक रत्न का मिलना तो फिर भी संभव है परंतु एक बार आस्था रुपी रत्न संसार रुपी समुद्र में खो जाए तो मिलना अत्यंत दुर्लभ है। अतः 'एक श्रद्धा को टूटने

ही नहीं देना सबसे श्रेष्ठ उपकार है।' कहा गया है -

अतत्वज्ञेऽपि तत्त्वज्ञं भवितव्यं दयालुभिः।
कूपे पिपतिषु र्बालो न ही केनाऽप्युपेक्षते॥

तत्वज्ञानियों को चाहिए कि जिस प्रकार कुयें में गिरते हुए बालक को सभी देखने वाले, बचाने का प्रयत्न करते है उसी प्रकार मिथ्यात्व में पड़ते हुए प्राणियों को जैसे बने वैसे बचाने का प्रयत्न करें।

आज के भौतिक, सुख सुविधा जनक परिवर्तिनी युग में चारित्र से भ्रष्ट लोग धार्मिक कर्तव्यों को भूल गये है। अधिकांशतः जैन समाज में आज घर, होटल बन गया है, शराब पीना फैशन हो गया है, "घर का भोजन भाता नहीं और होटल के भोजन बिन अब रहा जाता नहीं"। प्राचीन जैनधर्म का सदाचार प्रायः लुप्त हो गया है, ऐसे विचित्र संस्कार आज देश, समाज, परिवार के गणमान्य, धर्म के नारे लगाने वाले श्रावक गण, आपने इन्हें धर्म संस्कार नहीं दिये, जब अनजाने में इन्होंने दुर्व्यसनोंका सेवन किया तो आपने उनका स्थितिकरण नहीं किया, यदि आप कठोरता से कहते कि-हमारी समाज में तुम्हारा अस्तित्व तभी तक है जब तक तुम सदाचारी हो, तो वह सावधान हो जाता। परंतु आपने चुप्पी बाँध ली, आँख बंद कर ली, आपने तो धर्म की ध्वजा को चारों ओर फहराने वाले नवयुवकों को गढ्ढे में गिरा दिया और आपने मात्र युवा पीढ़ी को ही नहीं अपितु धर्म को गिराया है। क्योंकि कहा गया है कि -

Futures religious stone of foundation is today's young generation

अर्थात् आज की युवा पीढ़ी ही भविष्य के धर्म की आधार शिला है।

अतः आप समाज और परिवार का स्थितिकरण करें, ऐसे संस्कार भर दे कि वह यह कहना प्रारंभ कर दे कि मुझे मरना मंजूर है परंतु अपनी संस्कृति को खोना मंजूर नहीं।

परंतु देखा यह जाता है कि आज व्यक्ति का धन, सुविधा आदि होने पर धर्म को छोड़ने तैयार है। व्यक्ति धन के लोभ में धर्म को परिवर्तित करने लगा है, धन की कमी, बीमारी आदि से अपने आचरण से गिरकर धर्माचरण से विपरीत कार्यों को अपनी आजीविका को चलाने के लिए करने लगा है, तो भगवान कहते है कि हे दयालु श्रावक! धर्म की रक्षा के लिए धन देकर चारित्र या धर्म मार्ग से गिरते पुरुषों को पुनः उसी में स्थिर कर देना ही सबसे बड़ा दान, करुणा व अनुकंपा है। परंतु दूसरे की सहायता हेतु दिया गया दान दिखावे को लिए न हो, क्योंकि अपने साधर्मी का सहयोग अभिमान की पुष्टि या

दिखावे के लिए नहीं किया जाता है यदि दिखावे की भावना से सहयोग करोंगे तो आंतरिक उपलब्धियाँ, आत्मविशुद्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती।

एक बार अनाथ दीन हीन महिलाओं के लिए दान या सहयोग देने की भावना से एक आयोजन रखा गया उनके पास न रहने को घर था, न खाने को भोजन, न ही पहनने को अच्छे कपड़े। उन अनाथ महिलाओं का लोगों के बीच परिचय कराया गया तथा माईक के माध्यम से कहा गया कि आप इनका सहयोग करें, कुछ लोग परिस्थिति की मारी उन महिलाओं का जिनका मुख शर्म संकोच के कारण ढ़का था उनका मुख जबरदस्ती उघाड़ कर फोटो ले रहे थे, मेरा वहाँ प्रवचन था मैने कहा- यह सहयोग नहीं अपितु शोषण है। सहयोग में तो सहानुभूती, सम्मान, वात्सल्य होता है अतः सच्चा धर्मात्मा वही है जो दूसरे प्राणियों को अपनी ही तरह समझ कर उसकी प्रतिष्ठा व सम्मान का ध्यान रखते हुए सहयोग प्रदान करता है उसी व्यक्ति के अंदर वास्तविकता में स्थितिकरण अंग हो सकता है।

धर्मवत्सल बंधुओं ! स्थितिकरण अंग को धारक सम्यग्दृष्टि का हृदय संवेग भाव से पूरित रहता है। 'संवेग' अर्थात धर्म व धर्म के फलों में हर्षित होना या यूँ कहे कि अधर्म और अधर्म के फलों को देखकर दुःखी होना। संवेग भाव का धारी जब भी किसी धर्मात्मा को धर्म से विमुख होता हुआ देखता है तो उसका हृदय करुणा व दया से भर जाता है वह किसी का अहित होते हुए नहीं देख सकता अतः वह धर्मवत्सल भाव से प्रेरित हो अपने साधर्मी को समझाता है यदि वह प्रेम से माने तो ठीक है अन्यथा भय दिखलाता है कि यदि तुम अपनी चर्या में इस प्रकार का सुधार नहीं करोगे तो मैं तुमसे बात नहीं करुँगा, तुमसे किसी प्रकार का व्यवहार नहीं रखूंगा। सम्यग्दृष्टि विवेकवान धर्मात्मा अनुकंपा, दया, वात्सल्य व करुणा से सदैव भरा रहता है। ''चोट देकर मलहम पट्टी करना कोई दया नहीं अपितु चोट लगने के पूर्व ही उसे सावधान कर देना सर्वश्रेष्ठ दया है।'' आज प्रायः गिरते को गिराने वाले, मिटते को मिटाने वाले, टूटे को और तोड़ने वाले हजारों लोग मिलते है परंतु स्वयं कष्ट सहकर दूसरों को बनानेवाले विरले ही होते है कहा भी है-

शैले-शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजें गजें।
साधवो नैव सर्वत्र चंदनं न वने-वने।।

जिस प्रकार प्रत्येक पर्वत में मणि नहीं होते तथा प्रत्येक हाथी में मोती नहीं होते, व प्रत्येक वन में चंदन नहीं होता उसी प्रकार स्वपर कल्याण की भावना रखने वाले

सज्जन महापुरुष सर्वत्र नहीं होते है। क्योंकि प्रायः व्यक्ति जब भलाई करने जाता है तो उसे बुराई भी मिलती है जैसे यदि आप अपने सोते हुए साधर्मी को जगाने जाए कि उठो, सामायिक का समय हो गया, आपने तो अच्छी भावना से जगाया और हो सकता है वह उल्टा आप पर रुष्ट हो जाए कि आपने क्यों मेरी नींद खराब की। अतः स्थितिकरण की भूमिका में पहुँचने के पहले बुराई व अपकार को सहने की भी शक्ति होनी चाहिए।

अतः बंधुओं ! स्थितिकरण करने के लिए आवश्यक है कि पहले आप स्वयं मोक्ष मार्ग में दृढ़ता से स्थित हो तथा बाद में दूसरे को अपने सम्यक् चिंतन के द्वारा मोक्ष मार्ग में स्थित करें क्योंकि तभी आप किसी की श्रद्धा के टूटे तारों को जोड़ने में समर्थ हो सकते है। क्योंकि दूसरे को अनुशासित करने के पूर्व स्वात्मानुशासन भी अनिवार्य है क्योंकि कहा भी है-

First self control than discipline

अर्थात् जो डाल स्वयं कच्ची हो वह दूसरे को सहारा नहीं दे सकती और यदि देगी तो वह शीघ्र ही स्वयं ही टूट जायेगी। लौकिकता में ऐसे व्यक्तियों के लिए कहा भी जाता है-

'आप डूबे पाहुने, ले डूबे जजमान'।

एक बार एक बच्चे ने अपने दादा जी से कहा - कि दादा जी मेरी अंगुली पकड़ लो, वरना गिर जाओगे तो दादा जी बोले पहले तू स्वयं तो मजबूत हो जा कि मेरा वजन झेल सके अन्यथा मेरे साथ-साथ तुम भी गिर जाओगे। यह तो एक दृष्टान्त मात्र है कहने का तात्पर्य तो यह है कि स्थितिकरण करने के लिए आवश्यकता है पहले विवेक, ज्ञान के द्वारा स्वयं को ठोस करने की, क्योंकि जो स्वयं ठोस होगा वही दूसरे का भी स्थितिकरण कर सकेगा।

एक बार हमारे पूज्य आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज ने मुझे एक दर्शन साहित्य न्याय का ग्रंथ दिया, आचार्य श्री की आज्ञा के बिना ही पढ़ना प्रारंभ किया नये-नये थे कुछ अधिक अनुभव नहीं था शास्त्र मिला तो पढ़ना प्रारंभ कर दिया जब पूज्य आचार्य को पता चला तो बोले वह शास्त्र वापस लाईए, किसने पढ़ने को कहा। दूसरा ग्रंथ देते हुए बोले यह पढ़ना। मैने वह ग्रंथ ले लिया। दो वर्ष के पश्चात् जब मैने गुरुवर से स्वाध्याय के लिए कोई ग्रंथ मांगा तो गुरुवर ने वही न्याय का शास्त्र मुझे पकड़ाते हुए कहा- इसे पढ़ना। मुझे याद आ गया कि इसी शास्त्र के कारण मुझे पहले डाँट पड़ चुकी है अतः हो सकता है आचार्यश्री मेरी परीक्षा लेने के लिए यह ग्रंथ दे रहे हो अतः मैने ग्रंथ

को लेने इंकार कर दिया मैने कहा- आचार्य श्री यह नहीं, कोई दूसरा ग्रंथ चाहिए। तब पूज्य आचार्य श्री बोले नहीं, तुम्हे इसी का स्वाध्याय करना है मैने कहा- गुरुजी, पहले तो आपने इसे पढ़ने से मना किया था तब आचार्य श्री बोले पहले इसलिए मना किया था कि पहले स्वसमय का ज्ञान होना चाहिए बाद में परसमय का क्योंकि जब तक अपने मत का पूर्णज्ञान नहीं होता और व्यक्ति परमत का अभ्यास प्रारंभ कर देता है, तो निश्चित ही वह भटक जाता है। इसलिए पहले मना किया था परंतु अब आप परिपक्व हो चुके है अतः पढ़ सकते है। अतः स्थितिकरण करने वाला पहले स्वयं परिपक्व हो तभी वह दूसरे को भी गिरने से बचा सकता है किसी कवि ने कहा है-

पहले निज में स्थिर होना, फिर औरो को स्थिर करना।
स्थितिकरण अंग कहता है, आस्तिकता से मन को भरना।।

बंधुओं ! पूज्य आचार्य कल्पश्रुत सागर जी महाराज हमेशा कहा करते थे कि गुरुवर के चरण सदा मेरे साथ रहें, वे कभी स्वप्न में भी मुझसे न छूटें। मैंने कहा- आप तो स्वयं विद्वान है फिर ऐसी भावना क्यों ? उन्होंने कहा सिर पर गुरु की छत्रछाया अत्यंत आवश्यक है बिना छत के मकान की कोई कीमत नहीं होती, तथा आत्म रक्षा के लिए कील का सहारा होना ही चाहिए और वह कील गुरु ही होते है।

एक बार कबीर संत ने संसार की स्थिति को देखा तो बड़े उदास हुए तथा चक्की चलती हुई देखकर अपने चिंतन को कविता में ढ़ालते हुए बोले-

चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय।
दो पाटो के बीच में साबुत बचा न कोय।।

वही कबीर दास का बेटा कमाल भी बैठा ता वह भी कवि का बेटा था अतः वह बोला-

चलती चक्की देखकर, कमाल दिया हँसाय.
कील सहारें जो रहें, बाल न बाँका जाए।।

अतः गुरु चरणों का सहारा उसी कील की तरह होता है, यदि वे चरण मुझे मिलते रहें तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरा कभी अहित नहीं होगा क्योंकि गुरु के चरणों मे रहने पर सदैव गुरु का दृष्टिकोण हम पर रहता है। यदि हम किसी क्रिया में लेट हो गये तो गुरु कहते है- क्यों जी ! कैसे लेट हुए उनका इतना कहना ही हमारे लिए पर्याप्त हो जाता है और यदि गुरु की थोड़ी सी नजर फिर जाएँ तो लगने लगता है कि अवश्य ही हमसे कोई त्रुटि हो गई और यदि गुरु डाँट दे तो हम तुरंत क्षमा याचना कर लेते है और हमारा

प्रायश्चित ही पापों को नष्ट कर देता है अतः कहने का तात्पर्य यह है की जब गुरु की अहिर्निश छत्रछाया हमारे ऊपर होती है तो सहजता में ही पापों से, गल्तियों से, दोषों से हमारी रक्षा हो जाती है और स्थितिकरण भी स्वयमेव ही हो जाता है।

गुरु एक अकारण बंधु होते है जो निःस्वार्थ भाव से अपना कीमती समय निकालकर हमें समझाते है सोचिए वे तो वीतरागी है उन्हें क्या मतलब तुमसे, तुम्हारी क्लास से, क्या प्रयोजन तुम्हे शिक्षा देने से, फिर भी एक सच्चे उपकारी की तरह निरंतर प्रयत्नशील रहते है कि प्रत्येक साधक रत्नत्रयधारी उत्थान के मार्ग पर चले, अतः स्वयं कष्ट सहकर भी सदैव नवीन-नवीन तरीकों से शिक्षा देकर उसे मोक्षमार्ग में स्थिर करते है किसी कवि ने कहा भी है-

परम हितैषी गुरु मिल जाएँ, तो अपना सौभाग्य मानएँ।
स्वयं कष्टों को सहकर भी जो हर कष्टों से तुम्हे बचाएँ।।

हे भव्य बंधुओं ! यदि जीवन में कभी तुम्हे कोई ऐसी स्थितिकरण करने वाला मिल जाए तो उसका कभी अपमान नहीं करना, सम्मान करना, उपकार मानना कि हमारे दोषों को दूर करने का एक सुवर्णिम अवसर आया है, कुआँ स्वयमेव चलकर प्यास बुझाने आ गया है उसकी पवित्र भावनाओं पर ध्यान देना, भला करने वाले परम उपकारी का कभी बुरा नहीं करना, यदि किसी के कृत उपकार का बदला उपकार से न चुका सको तो कोई बात नहीं कभी भी उपकारी का अपकार मत करना अन्यथा तीव्र कर्म का बंध होगा और तुम सज्जन की श्रेणी में नहीं दुर्जन की श्रेणी में आओगे तथा सन्मार्गी नहीं अपितु उन्मार्गी कहलाओगे।

हे भव्य बंधुओं ! भगवान ने कहा है-स्थितिकरण अंग को पाने आपको कैंची नहीं अपितु सुई धागा बनना होगा क्योंकि सुई धागा रुपी गुरु ही खण्ड-खण्ड हुए दर्शन व चारित्र से जोड़ सकता है। इसलिए कहा भी है गया है-

दुर्जन कैंची संत सुई, अंतर इतना जान।
दुर्जन गुण तुम छोड़ दो, तभी स्थितिकरण मान।।

दुर्जन व्यक्ति कैंची की तरह मात्र तोड़ने का कार्य करते है तथा एक मात्र संत ही है जो सुई धागा की तरह होते है अतः स्थितिकरण अंग को पाने के लिए दुर्जन स्वभाव को छोड़कर आप संत स्वभाव को प्राप्त करो।

प्रायः दुनियाँ में कैंची की तरह खण्ड-खण्ड करने वाले लोग अधिक मिलते है यह बड़ा आश्चर्य है अतः उनसे (तोड़नेवालो से) अपने संयम की रक्षार्थ हे साधक !

तुम सदैव दूर रहना क्योंकि निश्चय से अपनी आत्मा को दोषों से बचाना ही स्थितिकरण है। इस स्थितिकरण अंग में राजा वारिषेण प्रसिद्धि को प्राप्त हुए, कथानक इस प्रकार है-

मगध देश के राजगृह नगर में राजा श्रेणिक अपनी रानी चेलना के साथ सुख, शांति व न्यायनीति पूर्वक राज्य करते थे उनका वारिषेण नाम का एक पुत्र था वह अपने पिता की तरह ही सुसंस्कारवान था कहा जाता है कि-

Like father like son, Like Mother like daughter.

अर्थात् जैसे पिता है वैसे ही पुत्र होते है तथा जैसी माता होती है वैसी ही उनकी पुत्रियाँ होती है। अतः सुसंस्कारवान माता-पिता के संतान भी सुसंस्कारवान ही होती है। प्रायः बच्चा जिस माहौल में रहता वह वही सीखता है वे राजा श्रेणिक व रानी चेलना अत्यंत धार्मिक व सुसंस्कारवान थे तथा वे अष्टमी और चतुर्दशी का उपवास करते थे तथा उपवास के दिन पूरा दिन धर्मध्यान के साथ व्यतीत करते थे, वे रात्रि में शांत चित्त होकर ध्यान करते थे। माता-पिता के संस्कारों में ढला वारिषेण भी अत्यंत धर्मात्मा था वह भी अष्टमी चतुर्दशी के दिन उपवास करता था व रात्रि में श्मशान भूमि में एकांत स्थान में जाकर वस्त्र का त्याग कर ध्यान करता था। यह गृहस्थ धर्म की सर्वोत्कृष्ट साधना है।

एक बार मगध सुंदरी वेश्या ने नगर सेठानी श्री कीर्ति के गले में एक सुंदर हार देखा और उसका ही ध्यान विचार करती हुई वह उदास थी, उसी समय क्षणिक रुपजाल में आसक्त विद्युत चोर ने उसकी उदासता का कारण पूछा- तब वेश्या ने सेठानी के गले में पड़े हार को प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। चोर उसे विश्वास दिलाता है कि वह शीघ्र ही वह हार उसे लाकर देगा। ठीक ही कहा है- वेश्या लंपटी मनुष्य क्या-क्या नहीं करता अर्थात् सब कुछ करता है, और वह चोर ऐन-केन प्रकारेण सेठानी का हार चुराकर बाहर आया ही कि चतुर्दशी की शुक्ल पक्ष की रात्रि में चमकते हार के प्रकाश को देखकर कोतवाल उसके पीछे लग गयें, चोर दौड़ते-दौड़ते श्मशान पहुँचा और सोचने लगा- 'जान बची तो लाखो पाए' अर्थात स्वयं की प्राण रक्षा के लिए वह हार ध्यानस्थ वारिषेण के पास डाल देता है। बंधुओं ! दुर्जनों का ऐसा ही स्वभाव होता है कि वे अपनी रक्षा हेतु दूसरों को अहित में डाल देते है- कहा भी है दुर्जन व्यक्ति -

निज दोषों को औरों पर धर, दुर्जन खुद की रक्षा करते.
लेकिन अपनी झोली खुद ही, कष्टो से वो हैं भरते ।।

बंधुओं ! दुनियाँ बड़ी विचित्र है जो सामने देखती है उसी को सत्य मानती है, आगे-पीछे की स्थितियों का विचार नहीं करती, अतः लोगों ने कहा- चोरी वारिषेण ने

की है। राजा को विश्वास नहीं हुआ कि मेरा पुत्र ऐसा कर सकता है परंतु राजा तो पुत्र व प्रजा में समान न्याय करता है। वह पक्षपाती नहीं अपितु समदर्शी, न्याय प्रिय होता है अतः राजा श्रेणिक ने इस अपराध की सजा, दण्ड के रुप में जल्लादों को वारिषेण का शीश, धड़ से अलग करने की आज्ञा दे दी। जल्लाद ने राजा की आज्ञानुसार जैसे ही वारिषेण के ऊपर तलवार का प्रहार किया तो वह फूलों का हार बन गई और उसने वह प्रहार एक बार नहीं अनेक बार किया परंतु हर बार फूलों की माला बन गई इस दृश्य को देखकर सारी प्रजा का मस्तक श्रद्धा से झुक गया, सभी वारिषेण के चरणों में झुककर क्षमा याचना करते है किसी ने ठीक ही कहा है कि जो सच्चे धर्मात्मा होते है देवता भी उनकी रक्षा करते है इस घटना से वारिषेण को वैराग्य हो जाता है और वे विचार करते है-

सत्तू वि होदि मित्तो, मित्तो विय जायदे तहा सत्तू।
कम्म विवाग वसादो, एसो संसार सब्भावे ।। ५७ वा.वेक्खाः ।।

संसार का स्वभाव बड़ा विचित्र है, कर्मो की मार बड़ी विचित्र है जो शत्रु को मित्र, मित्र को शत्रु, निरपराधी को अपराधी व अपराधी को निरपराधी बना देती है अतः वे वारिषेण, पिता के राज्य वापस लौटने आग्रह को टालकर वैराग्य पूर्ण भावों से प्रेरित हो सुरसेन नामक मुनिराज से दीक्षा ग्रहण कर साधनारत हो जाते है, एक बार मुनि वारिषेण विहार करते हुए राजग्रह नगर में आहारार्थ अपने पूर्वसखा पुष्पडाल के घर पड़गे, पुष्पडाल ने नवधाभक्ति से आहार दिया। आहारोपांत वह कमण्डल लेकर मुनिराज के साथ उन्हें छोड़ने के लिए चल दिया, कुछ दूर तक चला उसने सोचा कि अब महाराज वापस लौटने को कहेंगे परंतु महाराज ने कोई संकेत नहीं दिया अतः वह महाराज के साथ-साथ ही चलता गया, स्थान पर पुहँचते ही संघ के अन्य साधुओं ने भी प्रमोद भाव वश कह दिया, देखो आज वारिषेण मुनिराज एक और वैरागी को साथ लाये है, वारिषेण मुनि महाराज ने पूछा- बोलो पुष्पडाल तुम तैयार हो। पुष्पडाल ने संकोच वश व पूर्व मित्रता के नाते हाँ भर दी, दीक्षा के उपरांत दोनों मुनि तीर्थयात्रा कर भगवान महावीर स्वामी के समवशरण में पहुँचे, वहाँ देवों के द्वारा एक गीत गाया जा रहा था, जिसका तात्पर्य था-

विरह वेदना होती भारी, सहन नहीं की जाए।
जीवन बचना ही मुश्किल है, जिसको प्रिय ठुकराय ।।

अर्थात् जब पति प्रवास को जाता है तो पत्नि खिन्न चिन्त, उदास रहती है परंतु यदि पति पूर्णतः छोड़कर ही चला जाए तो वह जीवित कैसी रह सकती है। यह सुनकर मुनि पुष्पडाल को अपनी पत्नि की याद आने लगी। दुसरा उल्लेख मिलता है कि उन्हें १२

वर्ष तक अपनी पत्नि व घर की याद बनी रही। सत्य ही है जिसे सच्चा वैराग्य नहीं होता वह मनुष्य सुवर्ण के समान साधना काल के बहुमूल्य समय को कर्म काटने की बजाए, कर्म बाँधने में व्यतीत कर देता है, तो वह मोक्ष को कैसे पा सकता है?

मोह ण छिज्जदि अप्पा, दारुणकम्मं केरदि बहुबारं।
ण हु पावदि भवतीरं, किं बहुदक्खं वहेदि मूढ़मदी।। ६३ र.सा.।।

जो आत्मा मोह को छोड़े बिना, कठोर भी तप करता है वह संसार का किनारा नहीं पाता अपितु बहुत दुःख भोगता है।

एक बार वारिषेण मुनि तीर्थवंदना हेतु गये थे तब मुनि पुष्पडाल ने अवसर का फायदा उठाया और अपने कदमों को घर की ओर बढ़ा दिया, देखो मोही प्राणी की दशा एकांत पाकर संयम से असंयम के सम्मुख चला जाता है

'इसीलिए आगम की आज्ञा है कि संयमी को संयम की रक्षा के लिए कभी भी एकल विहार नहीं करना चाहिए'।

इधर वारिषेण महाराज जब तीर्थयात्रा करके लौटे और उन्हे मुनि पुष्पडाल नहीं दिखे तो वे समझ गये कि अवश्य ही पुष्पडाल राजगृह की ओर गये होंगे वे एक सच्चे मित्र थे अपनी मित्र की अंतरमन की बात को भाप गये। अतः- उन्होंने राजगृह नगर की ओर प्रस्थान किया। राजगृह नगर पहुँचकर वे पुष्पडाल के पास पहुँचा और बोले क्यों घर की याद आ रही थी क्या? मै भी सोच रहा था बहुत दिन हुए अब घर की ओर चलना चाहिए। पुष्पडाल मुनि, वारिषेण महाराज की इस प्रकार की बात सुनकर प्रसन्न हो गये क्योंकि प्रायः मनुष्य इच्छानुकूल कार्य होनेपर प्रसन्न ही होते है, अपने मन के अनुकूल बात सुनकर मुनि पुष्पडाल की खुशी का पार नहीं रहा कहा भी है -

मनोरथेन तृप्तानां मूललब्धौ तु किंपुनः।

जो मनुष्य मानसिक उमंगो से खुश होते है उन्हें कदाचित् वस्तु ही मिल जाए तो उनकी खुशी की सीमा नहीं रहती।

बंधुओं! वारिषेण मुनि अपने मित्र के अंदर चारित्र के प्रति चलायमानता को देख धर्मवत्सल भाव से प्रेरित हो उनका स्थितिकरण करने की भावना से बोले पुष्पडाल, पहले तुम्हें मेरे घर चलना होगा, पुष्पडाल मुनि तैयार हो जाते है और दोनों मुनि राजमहल की ओर प्रस्थान करते है जैसे ही झरोखे से रानी चेलना पुत्र वारिषेण मुनि को महल की ओर आते देखती है तो चिंतित हो जाती है परंतु सम्यग्दृष्टि थी अतः कहीं पुत्र चारित्र से चलायमान तो नहीं हो गया यह जानने हेतु परीक्षा करती है फिर दो आसन लगाती है

जिनमें से एक लकड़ी का था तथा दूसरा रत्नजटित सुवर्ण का। वारिषेण मुनि, पुष्पडाल मुनि से कहते है पुष्पडाल, आप हमारे अतिथि है अतः आप पहले आसन ग्रहण करें, पुष्पडाल शीघ्र ही सुवर्ण सिंहासन पर बैठ जाते है तथा वारिषेण मुनि काष्ठ के आसन पर। अब रानी चेलना को विश्वास हो जाता है कि मेरा पुत्र वारिषेण श्रेष्ठ चारित्र का धारी है। क्योंकि रागी को रागोत्पादक सामग्री लुभाती है तथा वीतरागी को वीतरागता ही भाती है। काष्ठासन वीतरागता का तथा सुवर्ण सिंहासन राग का प्रतीक है। वारिषेण मुनि महाराज कहते है- माँ, मेरी ३२ पत्नियों को राजकीय श्रृंगार के साथ उपस्थित करें, सभी रानियाँ सुंदर-सुंदर वस्त्राभूषण पहनकर उपस्थित होती है और पुष्पडाल मुनि की पत्नि जो कि एक आँख से कानी थी उसे भी बुलाया गया। एक ओर ३२ सुंदर-सुंदर रानियाँ व दूसरी ओर पुष्पडाल की काली-कलूटी एकाक्षी पत्नि । वारिषेण मुनि कहते है तुम्हे इसमें से जो पसंद आये उसे ले सकते हो, पुष्पडाल सोचता है धिक्कार है मुझे और धन्य है ये वारिषेण मुनि जिनकी इतनी सुंदर-सुंदर पत्नियाँ धन, वैभव, संपदा होते हुए भी परम वैरागी है और मैं अपनी एकाक्षी पत्नि के राग को १२ वर्षों में भी न छोड़ सका। पुष्पडाल की गर्दन शर्म से झुक जाती है और वे वारिषेण मुनि से क्षमा याचना करते है और गुरु से प्रायश्चित लेकर पुनः दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं।

बंधुओं ! जीवन में यदि मित्र हो तो सच्चा हितैषी वारिषेण मुनि की तरह हो क्योंकि-

पापं निवारयति योजयेत हिताय, गुह्यं निगूहति गुणा प्रकटी करोति।
आपद्‌गतं च न जहाति ददाति काले सनमित्र लक्षण मिदं प्रवदन्तिसंतः।।

वह मित्र पाप को दूर करनेवाला, हित के लिए प्रेरित करने वाला, गुप्त दोष को छिपाने वाला, गुणों को प्रकट करने वाला, आपत्ति में छोड़ने वाला नहीं अपितु ऐसे समय पर सहायता करनेवाला होता है।

अतः बंधुओं ! जो वारिषेण मुनि की तरह स्थितिकरण अंग को धारण करता है वही परम हितैषी सच्चा मित्र है। अतः प्रत्येक धर्मात्मा को चाहिए कि वे स्वपर कल्याण की भावना से प्रेरित होकर जीवन में सुंदर आभूषण स्वरुप स्थितिकरण अंग को धारण करें तभी हमारा सम्यग्दर्शन विशुद्धि व निर्मलता को प्राप्त होगा। और हम सभी के समीचीन मोक्षपथ का प्रदर्शक बन सकेगा।

* * *

" गौ वच्छ सम प्रीति करता वात्सल्य अंग "

१) चादुवण्णे संघे चदुगदि संसार णित्थर भूदे।

वच्छल्लं कादत्वं वच्छे गावी जहा गिद्धी।। २६३ भ.आ.।।

– जो मनुष्य चतुर्गति रुप संसार से तिराने में कारण भूत मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका आदि चार प्रकार के संघ में बछड़े में गाय की प्रीति की तरह स्नेह रखता है वह वात्सल्य गुण है।

२) स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा।

प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते।।१७ र.श्रा.।।

– अपने साधर्मी, धर्मात्मा समूह के प्रति सद्भाव सहित, छलकपट रहित जो यथायोग्य व्यवहार किया जाता है वह वात्सल्य गुण है।

३) अनवरत महिंसायां शिव सुख लक्ष्मी निबन्धने धर्मे।

सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्य आलम्ब्यम्।। पु.सि.२९।।

– मोक्ष सुख की संपदा के कारणभूत जैन धर्म में अहिंसा में, समस्त साधर्मियों प्राणियों में, निरंतर उत्कृष्ट वात्सल्य व प्रीति होनी चाहिए।

४) समयस्थेषु वात्सल्यं स्वशक्त्या ये न कुर्वते।

ते बहु पापा वृतात्मानं स्युर्धर्माद्धि पराङमुखः।। भ.आ.।।

– स्वार्थ रुपी पिशाच से ग्रसित होता हुआ जो व्यक्ति ईर्ष्या. क्रोधादि कषायों व प्रमाद के वश होकर चारों प्रकार के संघ के प्रति सहयोग की भावना रखता वह व्यक्ति सम्यग्दृष्टि, धर्मात्मा नहीं है और ऐसा व्यक्ति बहुत पापों को ढककर जिनशासन से बहिर्भूत है।

" गौ वच्छ सम प्रीति करता वात्सल्य अंग "

प्रेम या वात्सल्य वह गुण है जो पारस्परिक आत्मीयता को बढ़ाता है, वात्सल्य की प्रभा से सारा वातावरण प्रेममय हो जाता है फिर क्रूर से क्रूर प्राणी तथा बड़े से बड़ा शत्रु भी वात्सल्य की डोर में बंध कर समीप चला आता है व सारे बैर विरोध को भूल जाता है।

धर्म वत्सल बंधुओं ! आज हम चर्तुगति भ्रमण नाश करने वाले, तीर्थंकर पद की प्राप्ति में कारणभूत देश, समाज, परिवार तथा धार्मिक लोगों में संगठन, एकता को बनाए रखने वाले सम्यग्दर्शन के अमोघ मंत्र वात्सल्य गुण से अपने हृदय को पूरित करने का प्रयत्न करेंगे।

भव्य मनीषियों ! वात्सल्य अंग वह अमृत पानक है जिसके पान करते ही जीवन में दूसरों के प्रति करुणा, दया, अनुकंपा अर्थात् मैत्री के भाव उत्पन्न होते है, स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरों के कष्ट दूर करने के भाव उत्पन्न होते है, वात्सल्य एक ऐसा रस है, जिसका सेवन करने के पश्चात् सारे रस बेरस हो जाते है। वात्सल्य वह मंत्र है जो हमें तीर्थंकर पद जैसी महान विभूतियों को प्रदान करा देता है, वात्सल्य धर्मात्मा का श्रृंगार है। वात्सल्य धर्म का प्रादुर्भाव बाहर से नहीं अपितु अंतरात्मा से होता है। वात्सल्यवान व्यक्ति का सारा विश्व कुटूंब की तरह होता है तथा वात्सल्यवान का सभी जन निःस्वार्थ भाव से सहयोग करते है। वात्सल्य धर्म एक धर्मात्मा को दूसरे धर्मात्मा की प्रगति, उत्थान, उन्नति में सहयोगी बनाता है, दोषों को दूर से ही छोड़ देना भी वात्सल्य का प्रतीक है, जिसके अंदर रत्नत्रयवान साधुजनों के प्रति स्वाभाविक छल से रहित प्रेम होता है, वही वात्सल्य धर्म का अधिकारी है वही संसार के बंध से छुड़ाने में हेतु है क्योंकि भगवती आराधना में आचार्य शिवकोटि महाराज ने कहा है -

चादुवण्णे संघे चदुगदि संसार णित्थर भूदे।
वच्छलं कादव्वं वच्छे गावी जहा गिद्धी।। २६३ भ.आ.।।

अर्थात् जो मनुष्य चतुर्गति रुप संसार से तिराने में कारण भूत मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका आदि चार प्रकार के संघ में बछड़े में गाय की प्रीति की तरह स्नेह रखता है वह वात्सल्य गुण है । तथा इसके विपरीत जो प्राणी-

समयस्थेषु वात्सल्यं स्वशक्त्या ये न कुर्वते।

ते बहु पापा वृतात्मानं स्युर्धर्माद्धि पराङमुखः।। भ.आ.।।

स्वार्थ रुपी पिशाच से ग्रसित होता हुआ जो व्यक्ति ईर्ष्या, क्रोधादि कषायों व प्रमाद के वश होकर चारों प्रकार के संघ के प्रति सहयोग की भावना रखता वह व्यक्ति सम्यग्दृष्टि, धर्मात्मा नहीं है और ऐसा व्यक्ति बहुत पापों को ढककर जिनशासन, जैनधर्म से बाहर होते है। अतः

हे बंधुओं ! उपगूहन व स्थितिकरण अंग के बिना किया गया वात्सल्य, एक स्वार्थ पूर्ण वात्सल्य होता है और वास्तविक अर्थों में वह वात्सल्य नहीं है, बहुत सारे लोग ऐसे भी होते है जो मुख में राम और बगल में छुरी का काम करते है सामने तो हितैषी लगते है परंतु उनका मन पवित्र नहीं होता आगम में ऐसे लोगों को 'पिट्ठ मांस भक्षी' की संज्ञा दी गई है। ऐसे व्यक्ति तो शत्रु से भी अधिक हानिकारक होते है। गल्ति को देखकर सामने तो मीठे बनते परंतु पीछे बुराई करते है तो आचार्य महाराज कह रहे है कि ऐसे व्यक्ति का कभी हित-कल्याण नहीं हो सकता अर्थात् वह कभी सम्यक् समाधि को भी प्राप्त नहीं कर पायेगा अतः उपगूहन व स्थितिकरण के बिना किया गया वात्सल्य दर्शन मात्र प्रदर्शन है, दिखावा है।

बंधुओं ! कोई गधा यदि शेर की खाल को ओढ़ ले तो वह शेर नहीं बन जाता, उसी प्रकार स्थितिकरण किये बिना वात्सल्य दिखाना मात्र छल, कपट, मायाचारी ही है। ऐसे लोग हम बुरे न बन जाए या जो लोग हमारी सेवा सम्मान करते है उसमें कमी न आ जाए या फिर दूसरे व्यक्ति हमसे न बढ़ जाए इत्यादि ईर्ष्या व स्वार्थ वशात् दूसरे का स्थितिकरण नहीं कर पाते। मान लीजिए आप सामायिक या पूजा आदि नहीं कर पा रहे है, आपका नियम टूट रहा है और आपका साधर्मी/आपका मित्र आपसे कुछ न बोले तो याद रखना वह मित्र, मित्र नहीं अपितु शत्रु है क्योंकि जो स्नेह आज आपको अच्छा लग रहा है वही आपको कल गड्ढ़े में पटक देगा।

इस विषय में एक संदर्भ आता है कि दो मित्र थे वे जंगल से होते हुए अपने गाँव जा रहे थे, रास्ते में चलते-चलते एक मित्र कुछ पीछे रह गया। जो मित्र आगे चल रहा था उसे सामने से आता हुआ भालू दिखायी दिया तो वह मित्र अपने पीछे से आ रहे

मित्र को संकेत दिये बिना ही स्वयं प्राण रक्षा हेतु पेड़ पर चढ़ गया, दूसरा मित्र जो पीछे से आ रहा था जब वह सामने भालू आता देखता है तो वह धरती पर लेटकर सांस रोक लेता है क्योंकि उसे अपने गुरु की शिक्षा याद थी कि -

हिंसक पशु यदि कोई आये, पर अन्य रास्ता दिख न पाये।
बस फिर एक काम तुम करना, सांस रोक कर धरती पर परना।।

जब भालू उसके पास आता है और उसे सूंघता है तो उसे मृतक समझकर आगे चला जाता है अब जो मित्र पेड़ पर चढ़ा था वह नीचे आया और बोला मित्र तुम ठीक तो हो न। वह भालू तुम्हारे पास आया तो वह तुम्हारे कान में क्या कह गया। तब दूसरा मित्र बोला- वह कह रहा था कि- धोखेबाज मित्रों से सदैव सावधान रहना क्योंकि ऐसे मित्र, मित्र नहीं अपितु सबसे बड़े शत्रु है।

बंधुओं ! सच्चा मित्र तो वह होता है जो हमें कुसंस्कारों से बचाता है, दुर्गति व पतन के मार्ग से निकालता है, हमें शिथिलाचारी नहीं बनने देता, तथा गल्ति होने पर रोकता है व अनुशासन और सदाचार हेतु प्रेरित करता है। कहा भी है -

मित्र वही जो दुर्गति पथ पर, जाने से रोके,
गलत बात पर चुप न रहकर, जो हमको टोके।
भले चुभे वह बात पर, परम औषधि जान,
स्वार्थ रहित वात्सल्य की एक यही पहचान।।

परंतु प्रायः ऐसे मित्र हमें भाते नहीं है ऐसे परम हितैषी के प्रति लोग कहते है यह बात-बात पर टोकता है, गुरु से शिकायत करता है। परंतु सत्य तो यह ही है कि जो हमारे दोषों को दूर करने में लगा है वही हमारा सच्चा मित्र है तथा उसी का प्रेम, स्नेह, वात्सल्य सच्चा है। आचार्य श्री समंतभद्र महाराज ने वात्सल्य अंग के स्वरुप का वर्णन करते हुए अपने रत्न करण्ड श्रावकाचार ग्रंथ में कहा है-

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते।। १७ र.क.।।

अर्थात् अपने साधर्मी, धर्मात्मा समूह के प्रति सद्भाव सहित, छलकपट रहित जो यथायोग्य व्यवहार किया जाता है वह वात्सल्य गुण है।

'स्वयूथ' अर्थात् साधर्मियों का समूह, धर्मात्मा, मुनिजन. आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि सामाजिक एकता संगठन हमारा कर्तव्य है कि हम इनके प्रति सद्भाव, अच्छे भाव रखे। संघ या समूह में सभी की साधना, अध्ययन, ज्ञान समान नहीं

होता, पांचो उंगलियाँ समान नहीं होती। अतः जैसे एक माँ अपने चार बेटों पर समान स्नेह रखती है। चाहे कोई बच्चा बुद्धिमान हो या मंद बुद्धि।

बंधुओं ! लक्ष्मण के लिए दुनियाँ क्रोधी कहती है परंतु राम ने कभी लक्ष्मण को क्रोधी नहीं कहा। वे यही कहते थे कि मैने तो उसे बचपन से ही गोदी में बच्चे की तरह पाला है वह क्रोधी हो नहीं सकता। आखिर ऐसा क्यों? क्या कारण था। तो बंधुओं ! एक मात्र भातृप्रेम, वात्सल्य था, क्योंकि जहाँ वात्सल्य, प्रेम होता है वहाँ अपनापन रहता है। यदि आप अपने समूह में किसी साधर्मी की कमजोरी, गल्ति को देखे तो कभी चार लोगों के बीच नहीं कहना, हाँ ये तो ऐसे है, क्योंकि अपनी समाज, देश, संघ या समूह को उसी समूह का व्यक्ति उठा भी सकता है और गिरा भी सकता है, प्रायः हमारे धर्म की हंसी दुसरे लोगों से कम और अपने लोगों से ज्यादा होती है। 'घर का भेदी लंका ढाय' कहावत विभीषण के ऊपर चरितार्थ हुई और आज तक किसी ने अपने बच्चे का नाम विभीषण नहीं रखा।

बंधुओं ! मैं आपसे पूछता हूं कि भगवान को भगवान यह संज्ञा किसने दी तो उत्तर मिलेगा भक्तों ने। भगवान ने कभी नहीं कहा कि तुम मेरी पूजा करो, अर्घ चढ़ाओं या सिंहासन लगाओं अपितु शिष्य या भक्त ही स्वयं अपने प्रभु कि भक्ति में तत्पर रहता है। इसी प्रकार एक सुशिष्य अपने गुरु की भक्ति में बिना कहे ही स्वयमेव तत्पर रहता है क्योंकि गुरु व भगवान के सम्मान से हमारे संघ का तथा हमारा भी सम्मान बढ़ता है। हम अपने गुरु का सम्मान करते है आने वाले अन्य श्रावकगण भी हमें देखकर हमारे गुरु का सम्मान व आदर करते है अतः हम अपनी समाज, संघ के प्रति जितनी सद्भावनाएँ रखेंगे तो कीमत हमारी ही बढ़ेगी, हमारे संघ समूह समाज की ही बढ़ेगी। क्योंकि कहा भी है-

Honour receives honour

अर्थात् सम्मान से सम्मान मिलता है।

बंधुओं ! संघ का बनाना जितना कठिन है उतना ही कठिन समाज व संघ का संगठन बनाए रखना है क्योंकि संघ का संगठन बनाए रखने के लिए कभी अप्रिय वचन भी बोलना पड़ते है तो क्या अप्रिय बोलने से हमारा वात्सल्य भाव नहीं रहा? नहीं अपितु यह भी एक वात्सल्य है क्योंकि इसके पीछे हित की भावना है। पूज्य आचार्य वीरसेन महाराज ने 'धवला जी' में कहा भी है- कि अप्रिय वचन, हितकारी होने से प्रिय ही है उसमें वात्सल्य का रस भरा हुआ है।

'सनाथ भाव' यानि कोई व्यक्ति, साधर्मी किसी बीमारी के कारण या अन्य

किसी कारण से घबराता है तो उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करना कि हम है न आपके, आप क्यों घबराते है, हम आपकी साधना में सहयोगी बनेगे। जब हम लोग संघ में पूज्य आचार्य विमल सागर जी के साथ थे और पूज्य आचार्य श्री इतना ही पूछ लेते थे कि आहार ठीक हुआ, स्वास्थ्य ठीक है तो यदि कोई कष्ट/ तकलीफ भी होती थी तो उनके इतना पूछते ही आधी तकलीफ तो तुरंत दूर हो जाती थी। अतः संघ में यथायोग्य सभी के आदर सम्मान को ध्यान में रखते हुए सेवा वैय्यावृत्ति करना भी वात्सल्य है।

भव्य बंधुओं ! निःस्वार्थ वात्सल्य में समाज, संघ, देश व समूह में एकता का उद्‌भव होता है, सुख व शांति के बीज उत्पन्न होते है। क्योंकि मात्र चर्चा करने या नारे लगाने से एकता आपसी प्रेम, संगठन नही होता अपितु निःस्वार्थ वात्सल्य ही एकता, संगठन व सहयोग की भावना को उत्पन्न करता है। राम के पास जब वे घर से निकले थे तो कुछ नहीं था परंतु उनके वात्सल्य का ही प्रभाव था जो इतनी विशाल सेना का निर्माण हुआ और वे लंकेश्वर को पराजित करने में समर्थ हो गए। सत्य ही है- जब वात्सल्य भाव जागता है तो आपसी भेद दिखायी नहीं देते, दूध और पानी की तरह एकमेकता का संबंध स्थापित हो जाता है जैसे यदि दूध को गर्म करते है तो उसमें जो पानी होता है वह भी गर्म हो जाता है दोनों विजातीय है फिर भी समर्पण के कारण एक हो जाते है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस दिन दूध व पानी की तरह समाज के प्रत्येक सदस्य में समर्पण आ जाएगा वहाँ विसंवाद, लड़ाईयाँ, ईर्ष्या और अपमान नहीं अपितु प्रेम,वात्सल्य की नदियाँ बहने लगेगी। अपने साधर्मी का हम सहयोग भी करें तो वह भी वात्सल्य से पूरित हो, क्योंकि वात्सल्य वह रस है जिसके सामने ५६ प्रकार के व्यंजनो के रस भी बेरस लगते है। प्रेम का रूखा भोजन भी क्यों न हो फिर भी वह स्वादिष्ट, मिष्ट लगता है और प्रेम के अभाव में रूखे मन से खिलाया गया हलवा, पूरी भी स्वादिष्ट नहीं लगता क्योंकि कहा भी है-

Untasty food becomes tasty because of affection

अर्थात् प्रेम का रुखा भोजन भी सरस लगता है।

बंधुओं वात्सल्य, स्नेह, प्रेम ये सभी एकार्थवाची है। प्रेम और वात्सल्य से आत्मीयता बढ़ती है, वात्सल्य की प्रभा से सारा वातावरण प्रेममय हो जाता है फिर क्रूर से क्रूर प्राणी, बड़े से बड़ा शत्रु भी वात्सल्य की डोर में बंध कर समीप चला आता है वह सारा बैर-विरोध भूल जाता है, भगवान महावीर स्वामी की वात्सल्यमयी आभा का ही प्रभाव था कि क्रूर से क्रूर प्राणी सिंह आदि भी जन्म जात बैरी के साथ एक साथ बैठ जाते

और एक ही घाट पर गाय व सिंह पानी पीते है। तथा इसी वात्सल्यमयी अहिंसा को अपनाकर गांधी जी ने परतंत्र देश को आजाद करा दिया।

बंधुओं भगवान महावीर ने जिसे वात्सल्य कहा, उसे ईशु ने प्रेम, कृष्ण ने स्नेह, मोहम्मद ने मोहब्बत तथा किसी अन्य ने अनुराग, भक्ति, समर्पण आदि नामों से पुकारा है आज अलग-अलग धर्मों की अलग-अलग मान्यताऐं है पर भगवान महावीर के वात्सल्य के कारण ही आज पूरा भारत एक है, एकता व संगठन के सूत्र में बंधा है तथा भारत के लोगों में आपसी भाईचारे, प्रेम, वात्सल्य व सहयोग की भावना प्रत्येक प्राणी के अंदर प्रवाहित रहती है।

बंधुओं ! परंतु जब हमारे जीवन में स्वार्थपरकता आ जाती है तो वात्सल्य नहीं रह पाता, क्योंकि वात्सल्य का संबंध अंतरात्मा से गौ और वच्छ की प्रीति की तरह होता है वह मात्र शरीर से संबंध नहीं रखता, अपितु धर्मात्मा के धर्म से आत्मीय गुणों से संबंध रखता है यह कोई प्रदर्शन या दिखावा नहीं है कि थोड़ी देर के लिए दिखा दिया फिर काम खत्म। ऐसा करोगे तो समय आने पर जब परीक्षा होगी तो आप वात्सल्य के नाम पर असफल हो जायेंगे। पूज्य आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज कहा करते थे कि वात्सल्य बाहर का नहीं अपितु अंतरात्मा से उत्पन्न होता है आज सारा देश उनके उसी वात्सल्य के कारण उन्हें अपने हृदय के सिंहासन पर बिठा कर पूजा करते है वे वात्सल्य की साक्षात् मूर्ति थे इसीलिए उन्हें वात्सल्य दिवाकर की उपाधि से विभूषित किया गया, वे कहते थे वात्सल्य वह अमोघ मंत्र है जो सारे विश्व को अपना बना लेता है। अतः प्रत्येक प्राणी को अनवरत् वात्सल्यमयी होना चाहिए। पुरुषार्थ सिध्दियुपाय में भी अमृतचंद्र महाराज नें वात्सल्यता की अनिवार्यता को बताते हुए कहा-

अनवरत महिंसायां शिव सुख लक्ष्मी निबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्य मालम्॥

अर्थात् मोक्ष सुख की संपदा के कारणभूत जैन धर्म में, अहिंसा में, समस्त साधर्मियों प्राणियों में, निरंतर उत्कृष्ट वात्सल्य व प्रीति होनी ही चाहिए।

बंधुओं ! कहने का तात्पर्य यह है कि आपके जीवन की परिचर्या ऐसी हो कि उससे वात्सल्य का अमृत टपकें। तथा आप सभी के दुःख को दूर करें, गुणाधिक लोगों का आदर-सम्मान करें, सभी से मैत्री भाव रखें और धर्मविमुख लोगों को सम्यक् राह दिखाए। तभी आपका सम्यग्दर्शन का वात्सल्य अंग सार्थक होगा तथा आपके जीवन को पावन व पवित्र बनायेगा। तथा विष्णुकुमार मुनि की तरह धर्म व धर्मात्मा की रक्षा हेतु

प्रेरित करेंगा। विष्णुकुमार महाराज के वात्सल्य अंग का कथानक इस प्रकार है। अवंती देश में उज्जयनी नगरी में राजा श्री वर्मा राज्य करते थे उनके चार मंत्री थे जिनके नाम क्रमशः बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद व नमुचि थे। राजा तो धार्मिक भावनाओं से भरा था परंतु ये चारों मंत्री विधर्मी थे। एक दिन उद्यान के माली ने राजा को अकंपनाचार्य आदि ७०० मुनियों के नगर आगमन की सूचना दी। राजा यह सूचना सुनकर अत्यंत प्रसन्न हुआ तथा पहले तो सिंहासन से उठकर मुनिराज को परोक्ष नमस्कार किया तदुपरांत संपूर्ण परिकर को लेकर,मांगलिक द्रव्य के साथ महाराज के दर्शनार्थ चल पड़ा। सभी जा रहे थे इसलिए मंत्रियों को भी जाना पड़ा, वे उदास मन से चल दिये उनके मुख से ऐसे लक्षण दृश्यमान हो रहे थे मानों उन पर भारी कष्ट आ पड़ा हो। सत्य ही है- जहाँ भक्ति न हो तो धार्मिक कार्य भारभूत ही लगते है।

पूज्य अकंपनाचार्य महाराज भी दिव्य निमित्तज्ञानी थे, उन्होंने अपने निमित्तज्ञान से जान लिया कि संघ पर कोई बड़ा भारी कष्ट आने वाला है अतः संपूर्ण संघ को आज्ञा दे दी कि राज परिवार के लौटने तक सभी मौनपूर्वक साधना में लीन रहेंगे शिष्य कहते है- जी गुरुदेव, 'गुरु आज्ञा गरीयषी' हम प्राण जाने तक भी गुरु आज्ञा का पालन करेंगे। राज परिकर सहित राजा आता है व श्रद्धा से सिर झुकाता है और त्याग व परम वीतरागता की मूर्ति मुनिराजों के दर्शन कर अपने आप को धन्य मानता है परंतु कलुषित मन वाले चारों मंत्री कहते है देखों इन निपट मूर्खो को इन्हें कुछ ज्ञान नहीं है इसीलिए आँख बंद करके मौन होकर बैठे है। इतना बड़ा राजा उसका सम्मान नहीं तो कम से कम आर्शीवाद तो दे सकते है, राजा कहता है अरें, यह क्या कह रहे हो ये तो परम ज्ञानी है इनमें ज्ञानी,अज्ञानी, राजा-रंक, सम-विषम सभी में समान भाव होते है। कहा भी है-

उपकारी गुरुजन होते है, देते है नित ज्ञान।
मौन साधना,ज्ञान अतुल वीतरागता की शान।।
सज्जन जन गुण देखत ही, नित है शीश नवाय।
लेकिन ऐसी भी दुर्बुद्धि है जो गुरु को दोष लगाए।।

भो ज्ञानियों ! दुर्जन और सज्जन में यही अंतर होता है कि दुर्जन दोषों को ढूंढता है और सज्जन गुणों को। यहाँ राजा मुनियों के दर्शन कर वापस चले जाते है। मंत्री भी मुनियों की निंदा कर वापिस लौट रहे थे कि अचानक रास्ते में उन्हे श्रुतसागर नामक मुनि आते दिखते है जो कि आहार चर्या कर लौट रहे थे, उन्हें देखकर मुनि द्वेष वश कहते है कि देखों यह बैल खा पीकर आ रहा है। उनके शब्द मुनिराज के कान में पड़ते है वे समझ जाते

है ये धर्मद्रोही है तथा अपने मत की श्रेष्ठता को सिद्ध करते हुए श्रुतसागर मुनि उन मंत्रियों से शास्त्रार्थ कर हरा देते है और अपने गुरु के पास पहुँचकर प्रसन्नता से सारी घटना सुना देते है। अकंपनाचार्य महाराज एक अनुभवशील, दुरदृष्टा आचार्य थे वे कहते है- यह तुमने अच्छा नहीं किया धर्म-विद्रोहियों से वाद करके तुमने पूरे संघ को संकट में डाल दिया है। श्रुतसागर मुनि बार-बार क्षमा मांगते है तथा गुरु से कहते है मुझे प्रायश्चित दे दीजिए। तब अकंपनाचार्य मुनि संघ पर आये संकट के निवारण हेतु मुनि श्रुतसागर को शास्त्रार्थ के स्थान पर ही रात्रियोग धारण करने का आदेश देते है शिष्य-मुनि श्रुतसागर गुरु आज्ञा पाते ही उसी स्थान पर आकर ध्यानस्थ हो जाते है। योजनानुसार क्रोधाग्नि में जलते हुए चारों मंत्री नग्न तलवार लेकर संपूर्ण संघ पर आक्रमण करने के उद्देश्य से आते है परंतु रास्ते में श्रुतसागर मुनि को खड़ा देखकर, झगड़े की जड़ यही है इसलिए इसी का पहले काम तमाम करेंगे ऐसा विचारते है परंतु पहला वार कौन करें क्योंकि यति हत्या, ब्रह्म-हत्या है, महापाप है अतः निर्णयानुसार चारों मंत्री मिलकर तलवार का वार मुनि महाराज पर करते है। परंतु जिसका कोई नहीं होता उसकी रक्षा स्वयं धर्म, भगवान,देव करते है अतः देव आकर मुनिराज की रक्षा करता है तथा चारों मंत्रियों को किलित कर देता है, प्रातः काल यह खबर बिजली की तरह सारे नगर में फैल गई। सभी ने मंत्रियों के दुष्कृत्य की निंदा की और राजा ने उनका मुख काला कर गधे पर बिठाकर राज्य से बहिष्कृत कर दिया।

कालान्तर में वे मंत्री अपनी विद्या व बुद्धि की बल पर हस्तिनापुर के राजा पद्म के शत्रु सिंहबल को हराकर राजा पद्म के निकटवर्ती बन जाते है तथा राजा हर्षित होकर उनसे मनचाहा वरदान मांगने को कहते है तो दुर्जन मंत्री उस वरदान को भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर मांग लेंगे ऐसा कह देते है।

कालान्तर में ७०० मुनियों सहित अकंपनाचार्य मुनि का हस्तिनापुर में आगमन होता है उन्हें देखते ही मंत्रियों का पूर्व बैर जाग्रत हो जाता है। क्योंकि कहा गया है-'बैर महाविष रुप' बैर सहसा समाप्त नहीं होता उसका जहर तो विष के समान बढ़ता जाता है वे राजा पद्म से पूर्व के वरदान के रूप में ७ दिन का राज्य मांग लेते है और राजा उन्हें ७ दिन का राज्य दे देता है क्योंकि ''सत्य, राजा का प्राण होता है'' राज्य पाकर चारो मंत्रियों ने मिलकर मुनिराजों पर उपसर्ग करना प्रारंभ कर दिया उन्होंने नगर के सारे गंदे पदार्थो को एकत्रित कर नरमेघ यज्ञ प्रारंभ कर दिया तथा चारों ओर से बाड़ी लगाकर अग्नि लगवा दी। निरपराध मुनिराजों पर घोर उपसर्ग होने पर भी वे सभी समता पूर्वक ध्यानस्थ हो गये। धन्य है वे मुनिराज - जो

आत्मध्यान करते सदा, समता में तल्लीन।
उपसर्गों में न डिगे, मुनिवर परम प्रवीन ।।

यहाँ मिथिलापुरी में सागर सेन नाम के आचार्य महाराज आकाश में श्रवण नक्षत्र को कंपायमान देखकर अपने निमित्तज्ञान से जान जाते है कि हस्तिनापुर में ७०० मुनियों पर घोर उपसर्ग हो रहा है और उनके मुख से आह ! शब्द की ध्वनि निकलती है तब पास बैठे क्षुल्लक पुष्पदंत इसका कारण पूछते है, तब वे द्रवित होकर बोलते है- बेटा- हस्तिनापुर में ७०० मुनियों पर घोर उपसर्ग हो रहा है, अतः तुम शीघ्र धरणीधर पर्वत पर स्थित मुनि विष्णुकुमार के पास जाकर उन्हें उपसर्ग निवारण हेतु कहो क्योंकि उन्हें विक्रिया ऋद्धि प्रकट हुई है, तब गुरु आज्ञा शिरोधार्य कर क्षुल्लक पुष्पदंत शीघ्र ही विष्णुकुमार मुनि महाराज के पास पहुँचते है और सारी घटना से परिचित कराते है और कहते है कि आपको तपबल से विक्रियाँ ऋद्धि उत्पन्न हुई है अतः आप उपसर्ग निवारण में समर्थ है। सच्चे दिगंबर मुनि तो परम वीतरागी होते है उन्हे यह पता ही नहीं था कि मुझे विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न हुई है, अतः वे ऋद्धि की परीक्षा करने हेतु अपना एक हाथ फैलाते है तो वह सुमेरु पर्वत तक चला जाता है। वे विष्णुकुमार मुनि शीघ्र ही हस्तिनापुर पहुँचते है तथा वहाँ के राजा पद्म(जो उनके पूर्व अवस्था के भाई थे) के पास जाकर कहते है जिस वंश में आज तक मुनियों की रक्षा और भक्ति होती आयी है उसे तुने कलंकित कर दिया, मुनियों की रक्षा पर घोर उपसर्ग हो रहा है और तुम चुप बैठे हो। राजा पद्म मंत्रियों को दिये गये वरदान आदि के बारे में विष्णुकुमार मुनि को बताकर अपनी विवशता प्रकट करते है तथा यह बात तो सर्वविदित है कि- "Life of Monarch is truth" अर्थात् '' सत्य ही राजा का प्राण होता है''

विष्णुकुमार मुनि ७०० मुनिराजों की रक्षार्थ वात्सल्य भावना से प्रेरित हो कर विक्रिया ऋद्धि के द्वारा अंगुल वाले ब्राहमण का रुप बनाकर यज्ञ स्थल पर पहुँचते है। बलि उनका सम्मान करता है और किमिच्छिक दान लेने हेतु ब्राहमण से आग्रह करता है। वह ब्राहमण दक्षिणा में मात्र ३ पैर भूमि की याचना करता है बलि जलांजलि दे प्रतिज्ञा करता है मुनि विष्णुकुमार जो ब्राहमण को वेश धारण किये थे वे अपनी विक्रिया के बल से एक पैर को सुमेरु पर्वत पर तथा दुसरे पैर को मानुषोत्तर पर्वत पर रखते है दो पग में ही सारी पृथ्वी को नाप लेते है और आवेग में आकर कहते है बोल बलि अब तीसरा पैर कहाँ रखूं। उनके आवेग से सारी धरती और आकाश कंपायमान हो गया। सभी देव रक्षाम् देहि-रक्षाम् देहि बोलने लगे। वह बलि मंत्री भयभीत हो अपने दुष्कृत्य की क्षमा मांगता

है, तथा मुनिराज से विक्रिया समेटने का आग्रह करता है। विष्णुकुमार विक्रिया समेटते है तथा तत्क्षण ही ७०० मुनिराजों का उपसर्ग निवारण हो जाता है तथा मुनि विष्णुकुमार पद्म राजा को पुनः राज्य सौंपते है और स्वयं अपने गुरु के पास जाकर प्रायश्चित लेकर पुनः दीक्षा ग्रहण करते है।

धन्य है वे मुनिराज विष्णुकुमार जिन्होंने वात्सल्यता का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत किया है ७०० मुनिराजों के उपसर्ग निवारण के लिए अपने संयम तक की परवाह नहीं की। उनका यह वात्सल्य भाव हम सबको शिक्षा देता है कि हम भी धर्म या धर्मात्मा पर आनेवाले कष्टों को जैसे बने वैसे अर्थात् अपना सर्वस्व भी दाव पर लगाना पड़े तो उसे भी लगाकर उनकी रक्षा करें। निर्मल भावों से जो इस वात्सल्य गुण को अपने जीवन में अपनायेगा वह अपने दर्शन को विशुद्ध बनाकर ही शिवपुर गामी बनेगा।

* * *

" आत्म प्रभावना ही सम्यक धर्म प्रभावना है "

१) अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।

जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना।। १८ र.श्रा.।।

– अर्थात् यथायोग्य रीति से अज्ञान रुपी अंधकार को नष्ट करके जिन शासन के महात्म्य को प्रकट करना प्रभावना अंग है।

२) पूज्यते यदपूज्योऽपि यदगम्योऽपि गम्यते।

वंद्यते यदवन्द्योऽपि तत्प्रभावो धनस्य च।।

– धन के प्रभाव से अवंदनीय- वंदनीय, असेवनीय-सेवनीय व अपूज्यनीय – पूज्यनीय हो जाता है।

३) गंगा पापं शशितापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा।

पापं तापं च दैन्यं च हन्ति संत समागमः।।

– गंगा पाप को, चंद्रमा ताप को तथा कल्पवृक्ष दीनता को दूर करता है परंतु साधु संतो का समागम पाप, ताप व दीनता तीनों को ही नष्ट कर देता है।

४) स्थैर्य : प्रभावना शक्तिः कौशवं जिनशासने।

तीर्थसेवा च पञ्चस्य भूषणानि प्रचक्षते।।

स्थैर्य, प्रभावना, शक्ति, कौशव व तीर्थसेवा ये पांच आभूषण जैन धर्म में देखे जाते हैं।

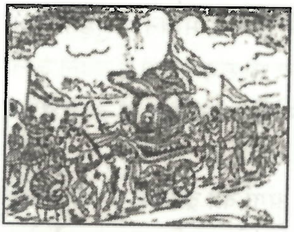

" आत्म प्रभावना ही सम्यक धर्म प्रभावना है "

साधुओं की त्याग-तपस्या, साधना की महिमा अपरंपार है, साधु आत्म साधना की मूर्ति होते हैं जिनमें आत्म प्रभावना की सुरभि सदा महकती रहती है। इसलिए धर्मप्रभावना करनी नहीं पड़ती अपितु उनकी परिचर्या और उपदेश से प्रभावना स्वयमेव हो जाती है।

बंधुओं ! आज हम परसमय रुपी जुगनुओं के प्रकाश को नष्ट करनेवाले जैन धर्म, स्वसमय रुपी सूर्य की प्रभा/प्रकाश को प्रकट करनेवाले, जन-जन में 'आस्था की अनुगूंज' कराने वाले सम्यग्दर्शन के अंतिम अंग 'प्रभावना अंग' के द्वारा हम आत्मप्रभावना करनेका प्रयास करेंगे।

भव्य मनीषियों ! प्रभावना अंग वह श्रेष्ठ सुगंधि है जिसके द्वारा जिनधर्म रुपी पुष्प की महिमा का प्रचार-प्रसार होता है, तथा जन-जन धर्माचरण से सुवासित होता है व जिन धर्म रुपी वृक्ष का विकास,उन्नति, उत्थान प्रगति होती है। धर्म प्रभावना के लिए सभी लौकिक स्वार्थों की तिलांजलि देनी होती है, साधक की आत्मप्रभावना से धर्म प्रभावना स्वतः हो जाती है। प्रभावना अंग वह आभूषण है जिससे धर्म, सम्यग्दर्शन व धर्मात्मा की सुंदरता में अभिवृद्धि हो जाती है, सम्यग्दृष्टि के लिए धर्म की प्रभावना ही सबसे बड़ा श्रृंगार है।

स्थैर्य : प्रभावना शक्तिः कौशवं जिनशासने।
तीर्थसेवा च पञ्चस्य भूषणानि प्रचक्षते ।।

अर्थात् प्रभावना को सम्यग्दृष्टि का एक आभूषण कहा गया है। तथा प्रभावना का उद्‌गम प्रशस्त भावनाओं से होता है। भावना बहुत कार्यकारी होती है कहा भी गया है- 'भावना भव नाशिनी' एवं 'भावना भव वर्द्धनी'। यदि टी.व्ही. (T.V.) के एंटिना की तरह मन की दिशा प्रशस्त अर्थात देव-शास्त्र-गुरु के प्रति सम्यक श्रद्धा हो तो यही भावना, प्रभावना बन जाती है। और जहाँ भावना प्रबल होती है तो वह भावना ही साधना बन जाती है, आराधना और उपासना बन जाती है तथा आत्मप्रभावना का भी हेतु बन

जाती है और जब ऐसी प्रशस्त भावनाओं से अन्य लोगों की प्रशस्त भावनाएँ जुड़ती है तो सब एक ही पथ के पथिक हो जाते है जिन्हें देखकर दुर्भावना भी सद्भावना में बदल जाती है व देव-शास्त्र-गुरु के प्रति सम्यक श्रद्धा व कर्तव्य की ज्योति प्रज्ज्वलित हो जाती है तब वही सार्थक सफल प्रभावना कहलाती है।

बंधुओं - आचार्य संमतभद्र महाराज ने सभी अंगों को क्रमिक रुप से रखा है इस क्रम में भी बड़ा रहस्य है अर्थात् प्रभावना तभी संभव है जबकि आपस में प्रेम, वात्सल्य व सौहार्द्रता का भाव हो। कदाचित् यदि आपस में ही विसंवाद, वैमनस्यता या अलगाव रहा तो धर्म प्रभावना कैसे संभव हो सकती है, पूज्य आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज कहा करते थे की प्रभावना की नहीं जाती अपितु संघ में हिलमिल कर साधनारत रहने से प्रभावना स्वयमेव हो जाती है, बहुत ताम-झाम दिखाकर भीड़ को एकत्रित कर लेना प्रभावना नहीं, क्योंकि वे धर्म से प्रभावित होकर नहीं अपितु ऊपरी प्रदर्शन देखने आये है।

बाहर की टीम-टाम प्रभावना नहीं, अगर आत्मा में धर्म भावना नहीं।
बाह्य साधनों में आत्म साधना नहीं, वात्सल्य के बिना सच्ची प्रभावना नहीं।।

बंधुओं- भीड़ तो एक मदारी भी एकत्रित कर लेता है डमरु बजाकर व नाच दिखाकर लोगों को प्रसन्न कर देता है। राजनेता, फिल्मस्टार भी भीड़ एकत्रित कर लेते हैं तथा प्रायः व्यक्ति यही कहता है कि हमारे प्रवचन में, प्रोग्राम में इतनी भीड़ थी व खुश हो जाते है परंतु याद रखना मात्र भीड़ एकत्रित करने का नाम प्रभावना नहीं है क्योंकि भीड़ में तो व्यक्ति खो जाता है और अपने लक्ष्य को भी भूल जाता है। भगवान महावीर व बुद्ध के सिद्धान्तो में इतना ही अंतर है की भगवान महावीर प्रचारवादी नहीं अपितु आचारवादी थे तथा बुद्ध इसके विपरीत जहाँ जाते वहाँ भीड़ एकत्रित करते थे, वे Quality नहीं Quantity को ही प्रभावना मानते थे, जब कि भगवान महावीर स्वामी भीड़ जोड़ना नहीं अपितु व्यक्ति को धर्म से जोड़ना चाहते थे भगवान महावीर स्वामी ने Quantity नहीं अपितु Quality को प्रधान माना। वे कहते थे कि भले ही व्यक्ति कम हो परंतु सम्यक श्रद्धा के साथ धर्म से जुड़े, धर्म से भीगे रहे तो मुझे विश्वास है की थोड़ी मात्रा में सही पर वे धर्म से, वात्सल्य से दूसरों को जोड़ लेंगे, अपने आचरण से लोगों को प्रभावित कर लेंगे तथा प्रभावना स्वयमेव हो जायेगी अतः प्रभावना के पहले आवश्यक है कि आपका आत्मा स्वयं पहले धर्म से प्रभावित हो कहा भी है -

Influence of religion happens automatically by influence of soul.

अर्थात्- आत्म प्रभावना से धर्म प्रभावना स्वयमेव हो जाती है।

बंधुओं ! अप्रभावना के हेतुओं से बचकर ही हम प्रभावना की ओर कदम बढ़ा सकते है,अतः हम ऐसा कोई भी कार्य न करें जिससे धर्म की अप्रभावना हो। अप्रभावना का मुख्य हेतु अज्ञान है क्योंकि अज्ञानता से ही लड़ाई-झगड़े, बुरे संस्कार, दुर्व्यसन, मर्यादा भंग व क्रोधादि कषायें होती है और यही आपसी मनमुटाव, लड़ाई-झगड़े आदि हमारी अप्रभावना का कारण बन जाते हैं, परंतु जब संतो का समागम पाकर हमारा अंतरज्ञान जाग्रत हो जाता है तब वह सोचता है कि तत्वचर्चा, स्वाध्याय व अनवरत साधना से ही साध्य की सिद्धि होगी, राग-द्वेष से नहीं अतः वह राग-द्वेष आदि का त्याग कर आपसी संगठन, एकता, वात्सल्यता को अपना लेता है और धर्म प्रभावना उसके सम्यक् आचरण व ज्ञान से स्वयमेव हो जाती है अतः आचार्य समंतभद्र ने प्रभावना अंग के स्वरुप को बताते हुए कहा है-

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना।। १८ र.श्रा.।।

अर्थात् यथायोग्य रीति से अज्ञान रुपी अंधकार को नष्ट करके जिन शासन के महात्म्य को प्रकट करना प्रभावना अंग है।

प्रायः आज दुनियाँ अज्ञानता में ही जीवन-यापन कर रही है, दुनियाँ प्रायः यहाँ वहाँ के चमत्कारों से प्रभावित है ऐसे लोगों को अपने ज्ञान व चातुर्य से समझाना चाहिए कि जहाँ विश्व के सारे देवता सिर झुकाते हैं, उसे छोड़कर तुम अन्यत्र जा रहे हो यह तुम्हारी बड़ी भारी अज्ञानता है, तुम्हारा दुर्भाग्य है। अरे ! वीतरागी भगवान की उपासना तो स्वर्ग व मोक्ष रुपी अभ्युदय को प्रदान करनेवाली है तो क्या तुम्हारे छोटे-मोटे दुःख, वेदना दूर नहीं करेगी, अवश्य करेगी। परमात्मा के दर पर देर हो सकती है पर अंधेर नहीं, इस प्रकार धर्म की महिमा व प्रभाव बताकर अज्ञानता में जी रहे लोगों को सही राह दिखाना, उन्हें धर्म से जोड़ना ही सच्ची धर्म प्रभावना है। भगवती आराधना में आचार्य शिवकोटि महाराज कह रहे हैं-

धम्म कहाकहणेण य वाहिरजोगेहिं चविणवज्जोहं।
धम्मो पहावि दव्वो जीवेसु दयाणुकंपाय।। भ.आ. २६४।।

अर्थात् धर्म की प्रभावना के लिए सभी में धर्म के माहात्म्य को प्रकट करना होगा। धर्म को, शास्त्र को व गुरुओं की साधना व उपदेशों को एक सीमित दायरे में नहीं अपितु चारों दिशाओं में परिचय में लाना होगा, संकीर्णताओं को छोड़ना होगा कि कहीं

लोग हमारे देव-शास्त्र-गुरु का अविनय न कर दें। अरे ! जब तक व्यक्ति सच्चे देव-शास्त्र-गुरुओं को नहीं समझता तब तक निंदा हो सकती है, परंतु ज्ञान होते ही वे दिगंबर संतो व सच्चे धर्म के प्रति आस्था के साथ झुक जाते हैं।

अज्ञानता के सद्भाव में प्रायः व्यक्ति दिगंबर साधुओं को मूर्ख अनपढ़ समझते हैं तथा जिनके पास कुछ नहीं होता या घर में झगड़ा आदि हो जाता है वे लोग साधु बन जाते हैं, नग्न रहने लगते है।

एक बार हम लोगों का विहार शिखर जी की ओर हो रहा था, तो लोगों ने आकर कहा महाराज श्री संभल कर जाना, बड़ा संघ है, बहुत से चोर लुटेरे, संस्कारविहीन लोगों का Area है। मैने कहा-ठीक। परंतु जब हम लोगों का प्रवचन हुआ तो विभिन्न विषय- जैसे-जीवों को नहीं मारना, अण्डे मांस आदि को नहीं खाना तथा दूसरा विषय जैसे धर्म क्या है? जैन साधुओं की परिचर्या कैसी होती है, वे दिन में एक बार खड़े-खड़े आहार लेते हैं तथा अपने हाथों से दाढ़ी व मूंछ के बालों को उखाड़ते है आदि विषयों पर होते थे उन प्रवचनों में अजैन भी आते थे जब उन्हें सारी जानकारी हुई तो वे बहुत ही प्रभावित हुए तथा फिर वे साधु संघ की निंदा नहीं अपितु सेवा वैय्यावृत्ति में जुट गये। अतः ज्ञान से निंदा दूर भागती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रारंभ में हो सकता है १० व्यक्ति ही जुड़े परंतु निश्चित है जब ज्योति से ज्योति जलेगी तो अनेकों लोगों के अंदर बैठा अज्ञानान्धकार दूर होगा।

विहार के पश्चात् पत्रकारोंने हमसे विहार का अनुभव पूछा, तो हमने कहा-प्रवेश के पहले लोगों के कहे अनुसार कि Area ठीक नहीं है तो हमारे मन में थोड़ा विकल्प आ गया था कि क्या होगा। परंतु प्रवेश करने के पश्चात् लगा कि इससे बढ़कर दूसरा अच्छा Area हमारे लिए नहीं है क्योंकि हम लोगों के पहुँचने से पहले ही जैन व अजैन सभी अगवानी करने आ गये व सेवा व्यवस्था में जुट गये।

अतः धर्मकथा, व्याख्यान, सदुपदेश आदि के द्वारा जैनेतरों में भी जैन धर्म व दिगंबर साधुओं के प्रति श्रद्धा, समर्पण, सेवा, आस्था उत्पन्न करा देना ही सच्ची प्रभावना है।

बंधुओं ! पूजा, पंचकल्याणक, गजरथ महोत्सव, जुलूस आदि भी प्रभावना के हेतु है। प्रायः सुना जाता है कि जैनी लोग इतने बड़े -बड़े पूजा विधान करवाते है, जुलूस निकलवाते है परंतु इनके पास इतना धन कहाँ से आता है, तो दुसरें लोग यही कहते

है कि जैनधर्म में वीतरागी भगवान की महिमा है कि जितना वे खर्च करते है उससे भी ज्यादा उन्हें मिलता है इस प्रकार धर्म की महिमा को देखकर जैनेतर लोग भी जिनमंदिर आने लगते है। अतः यह भी प्रभावना का हेतु है।

अमृतचंद्र महाराज ने कहा है-

अष्टम प्रवचनीयों रत्नत्रय सतत तेजसा।

सतत मेव दान तपो जिन पूजा विधातियेस ।।

अतः रत्नत्रयधारी मुनियों को दान देने से, जिनेन्द्र देव की पूजा करने से तथा मुनियों के तप आदि के द्वारा भी धर्म की प्रभावना होती है। दान भी प्रभावना का प्रबल हेतु है परंतु दान को विधिपूर्वक दें, यदि पड़गाहन भी करें तो एक साथ खड़े होकर करें, भले ही चार लोग हों परंतु व्यवस्थित हो। आपके व्यवस्थित होने से देखने वाले दूसरे लोगों पर भी प्रभाव पड़ता है कि मैं भी पड़गाहन करुँ। क्योंकि कहा भी जाता है-

"Doing work with unity & consolation in also a reason of influence"

''अर्थात् एकता व संगठन से कार्य करना भी प्रभावना का हेतु है।''

बड़े-बड़े नगरों में जब मुनि महाराज वृत्ति परिसंख्यान तप के अंतर्गत कोई विधि लेकर निकलते हैं तो जैन तो छोड़िए, अजैन लोग भी पीछ-पीछे दौड़ते हैं, अतः साधु संतो की तपस्या व कठिन चर्या को देखकर अन्य लोगों के सिर भी श्रद्धा से स्वतः ही झुक जाते हैं। अतः नास्तिकता, अश्रद्धा, ग्लानिभाव का दूर हो जाना ही सच्ची धर्म प्रभावना है।

भव्य बंधुओ ! एक-एक बूंद से गागर भरता है, एक-एक फूल जोड़ने से माला बनती है, एक-एक परमाणु को जोड़ने से पहाड़ बनता है उसी प्रकार एक-एक व्यक्ति को धर्म से जोड़ने से धार्मिक समाज बनती है। जिस समाज में एकता व संगठन होता है तो उस समाज का सम्मान व प्रतिष्ठा होती है परंतु संगठन के अभाव में समाज की छवि नहीं बन पाती, और एकता न होने का मुख्य कारण यही है कि व्यक्ति स्वयं की प्रभावना व प्रशंसा चाहता है।

आज के समय में व्यक्ति गजरथ पंचकल्याणक महोत्सवों के द्वारा धर्म की कम व स्वयं की प्रभावना अधिक चाहता है, दो व्यक्ति पत्रिकादि में अपना-अपना नाम छपाने के लिए झगड़ा करते हैं कि यदि मेरा नाम नहीं तो, तुम्हारा कैसे आ सकता है। बंधुओं- ऐसा व्यक्ति धर्म की प्रभावना- अप्रभावना के विषय में नहीं सोच पाता, धर्म को किनारे कर देता है, मात्र अपनी प्रशंसा हेतु, धर्म को कषायों की बलि वेदी पर चढ़ा देता

है, फिर आप कितना भी जुलूस निकालें पर उससे धर्म प्रभावना नहीं अपितु कषायें ही झलकती है, सत्य ही कहा है-

Person feel sad not by his own pain but by others happiness

"अर्थात् व्यक्ति अपने दुःख से नहीं अपितु पर के सुख से ज्यादा दुःखी है।"

अतः आचार्य कहते हैं कि हे अज्ञानी प्राणी ! अज्ञानता छोड़ो, क्योंकि जब धर्म प्रभावना का लक्ष्य होता है तो नाम नहीं काम दिखता है, नाम तो अहंकार की जननी है, ऐसी ही छोटी-छोटी मानसिकताओं के कारण हम सही मायने में न तो स्वयं धर्म से प्रभावित हो पाते हैं न ही दुसरे को प्रभावित कर पाते हैं अतः आवश्यकता है निजी स्वार्थों, आत्मप्रशंसा रुपी बीमारियों को छोड़ने की क्योंकि लोकेषणा ऐसी खाई है जिसमें गिरा व्यक्ति भी उठ नहीं पाता तो वह धर्म की ध्वजा को क्या उठायेगा अर्थात् नहीं उठा पायेगा।

आज धर्म प्रभावना की आढ़ में साधकों के अंदर लोकेषणा जाग्रत हो गयी है व्यक्ति स्वयं को, अपने गुरु को, संघ को तो अपनी परिचर्या से प्रभावित कर नहीं पाता और दूसरों को प्रभावित करना चाहता है तो कैसे संभव है अतः आवश्यकता है कि पहले आप सीमित क्षेत्र को प्रभावित करें। पहले का समय था कि विद्वान साधु भी प्रभावना से दूर रहते थे, एक बार हमने, आचार्य कल्पश्रुत सागर जी महाराज से पूछा- महाराज श्री आप तो इतने विद्वान हैं, चाहें तो अपने ज्ञान के द्वारा सर्वत्र धर्म की प्रभावना कर सकते हैं, तो उन्होंने बहुत सुंदर उत्तर दिया- कि प्रत्येक शिष्य का लक्ष्य रहता है कि गुरु के पादमूल में ही हमारा समाधि मरण हो अतः जब अंतिम रास्ता गुरु है तो क्यों हम बाहरी दुनियाँ, वातावरण में भटके। मैंने दीक्षा धर्म प्रभावना के लिए नहीं अपितु आत्म प्रभावना के लिये ली है और बाहर जाने से मान सकते है कि धर्म प्रभावना होगी पर ध्यान रखना आत्म प्रभावना मात्र एक गुरु के चरणों में ही हो सकती है अतः तुम आत्मप्रभावना करते जाओ, धर्मप्रभावना गुरु प्रसाद से स्वयमेव हो जायेगी।

आत्मप्रभावना तुम करो, धर्मप्रभावना हो जायेगी।
ख्याति नाम में लगे रहे तो, आत्मप्रभावना खो जायेगी।।

अतः साधक को सदैव अपने लक्ष्य को ध्यान में रखकर आत्मप्रभावना में लीन रहना चाहिए, बाहरी ख्याति, पूजा, नाम तो क्षणिक है, जब चक्रवर्ती को नाम लिखने जगह नहीं मिली, नाम मिटाना पड़ा तो तुम्हारा नाम कब तक टिक पायेगा। गुरुजन हमें समझाते हैं कि हे शिष्य ! यदि तुम आत्म साधना चाहते हो तो अंतेवासिन बन

कर रहो तभी तुम्हारे आत्मीय गुणों का विकास पूर्णरुपेण होगा और जो आत्मसाधना में मजबूत होता है ऐसे साधक को धर्मप्रभावना करनी नहीं पड़ती अपितु उसके आचरण ज्ञान, परिचर्या से धर्मप्रभावना स्वयमेव हो जाती है।

मुनि वज्रकुमार इस अंग में प्रसिद्धि को प्राप्त हुए है।

प्रसंग इस प्रकार है कि कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर के राजा बल तथा पुरोहित गरूड़ थे। गरूड़ का सोमदत्त नामक पुत्र छोटी उम्र से ही मामा सुभूति के पास ही अध्ययन करता हुआ वृद्धिंगत हुआ, एक बार उसने मामा से, राजा को देखने की इच्छा प्रकट की परंतु मामा ने साफ मना कर दिया, भांजा उस समय तो शांत रह गया पर एक दिन हठता से राजा के पास पहुँच गया, वह विद्वान तो था ही इसलिए राजा को प्रभावित कर वह मंत्री पद पर सुशोभित हो गया, मंत्रीपद पर आसीन देख उसके मामा ने अपनी यज्ञदत्ता पुत्री भांजे को दे दी। सही कहा है-

पूज्यते यपूज्येऽपि यदगम्योऽपि गम्यते।
वंद्यते यदवन्द्योऽपि तत्प्रभावो धनस्य च ॥

धन के प्रभाव से असेवनीय-सेवनीय, अपूज्यनीय-पूज्यनीय, अवंदनीय-वंदनीय हो जाता है।

यज्ञदत्ता जब कालान्तर में गर्भवती हुई तो उसे दोहला हुआ- उसे बरसात के मौसम में आम खाने की इच्छा हुई। अब असमय में आम कहाँ से आये, वर्तमान का समय तो था नहीं कि कोल्ड स्टोरेज में फल रखे हो तो हम ले आये। अतः सोमदत्त अपनी पत्नि के दोहले को पूरा करने के लिए आम की खोज में जंगल की ओर निकल पड़ा, तो अचानक उसे आम से लदा हुआ एक वृक्ष दिखायी देता है जिसके नीचे सुमित्राचार्य मुनि महाराज योग धारण कर ध्यान कर रहे थे। कहा जाता है- कि

दिगंबर मुनियों की त्याग तपस्या, श्रद्धा बड़ी जगाती है।
असमय में चमत्कार देखकर, दुनियाँ शीश झुकाती है॥

बंधुओं ! यह उनकी त्याग तपस्या का ही प्रभाव था कि असमय में वृक्ष पर आम लग रहे थे, उसने आम तोड़कर मित्र के हाथ घर भिजवा दिये और स्वयं उनकी शांत मुद्रा, ध्यान, तप तथा धर्मोपदेश से प्रभावित हो, स्वयं विरक्त हो कर दीक्षा लें मुनि बन गया।

भव्य बंधुओं ! यह भी एक प्रभावना है जहाँ साधक अपनी साधना से दूसरों को कल्याणपथ पर लगा देता है अतः पूज्य आचार्य श्री हमेशा कहते थे कि आत्मप्रभावना

करो तो धर्मप्रभावना स्वयमेव हो जायेगी।

यज्ञदत्ता ने पुत्र को जन्म दिया, जब उसे मालूम हुआ कि मेरे पति दीक्षित हो नाभिगिरी पर्वत पर आतापन योग धारण करके ध्यान कर रहे है तो वह बड़ी क्रुद्ध हुई और बोली दीक्षा ही लेनी थी तो शादी क्योंकी ? पुत्र को जन्म क्यों दिया वह गुस्से में आकर नाभिगिरी पर्वत पर स्थित सोमदत्त मुनिराज के चरणों में पुत्र को छोड़ देती है और कहती है लो संभालो अपने बेटे को। परंतु वे मुनिराज तो वैरागी थे-

परम वीतरागता की सच्ची मूरत कहलाते,
जंगल में रहकर के ये निज ध्यान लगाते।
सम्यक ज्ञान की ज्याति से वे,
अपने पराये का भेद मिटाते॥

उन्हें बेटे और बाहरी दुनियाँ से कुछ मतलब नहीं था अतः उन्होंने आँख उठाकर भी पुत्र की ओर नहीं देखा। उसी समय अमरावती का विद्याधर दिवाकर सेन अपनी पत्नि के साथ वहाँ आया जिसे छोटे भाई पुरन्दर देव ने राज्य से निकाल दिया था और वह मुनिराज के पास बच्चे को पाकर अतिप्रसन्न हो गया क्योंकि उसको कोई बेटा नहीं था। वह उस बच्चे को उठा लेता है तथा वज्रकुमार नाम रखकर दोनों पतिपत्नि उसका लालन-पालन करने लगते हैं तथा बड़े होने पर विद्याअध्ययन आदि कराते हैं। एक बार हिमवान पर्वत पर एक विद्याधर की पुत्री पवनवेगा प्रज्ञप्ति नाम की विद्या सिद्ध कर रही थी तभी उसकी आँख में तीक्ष्ण कांटा लग गया, तब वज्रकुमार नें बड़ी कुशलता से वह कांटा आँख से निकाल दिया और जिससे पवनवेगा को विद्या सिद्ध हो गयी। विद्या सिद्ध हो जाने के उपरान्त पवनवेगा ने वज्रकुमार से प्रभावित हो कर उसके साथ विवाह कर लिया।

एक बार वज्रकुमार को यह ज्ञात हो गया कि दिवाकर देव व जयश्री उसके माता-पिता नहीं है। तब वे अपने असली माता-पिता को जानने की इच्छा प्रकट करते हैं तब दिवाकर देव ने सारी घटना सुना दी, तब वज्रकुमार सोचते है मैं तो मुनि चरणों में था फिर क्यों संसार परिभ्रमण के कार्य करु। अतः वह वैराग्य को प्राप्त होकर सोमदत्त मुनि के चरणों में जाकर दीक्षा ग्रहण कर लेते है।

तथा तपस्या करते हुए वे एक बार मथुरा में विराजमान थे। उस समय मथुरा के राजा पूतिगंधी अपनी पत्नि उर्विला के साथ राज्य शासन करते थे। उर्विला सम्यग्दृष्टि व जैनमतानुयायी थी। तथा उनकी एक दुसरी रानी बुद्धदासी, बौद्धमत की अनुयायी थी,

बुद्धदासी छोटी रानी थी परंतु उसने राजा को प्रसन्न कर बौद्ध मतानुयायी बनाकर स्वयं पटरानी बन गई। एक बार फाल्गुन मास की अष्टान्हिका पर्व के अवसर पर दोनों रानियों में विवाद हो गया कि रथ किसका पहले निकलेगा, बोद्धों का या जैन का।

राजा के सामने समस्या थी कि यदि एक का पक्ष लूँगा तो दुसरी रानी रुष्ठ हो जायेगी परंतु बुद्धदासी रानी में अधिक प्रेम होने से वे बौद्ध रथ को आगे निकालने की आज्ञा देते है। अब उर्विला को चिंता हुई क्योंकि वह सच्ची धर्मात्मा थी और किसी भी कीमत पर जिनमत की हार उसे स्वीकार नहीं थी अतः वह मथुरा में विराजमान वज्रकुमार मुनि के पास पहुँचती है और निवेदन करती है कि महाराज हमारे धर्म की शान का प्रश्न है, आप कोई उपाय निकालिये जिससे हमारा जैन रथ ही आगे चले और मुनिराज के चरणों में प्रतिज्ञा बद्ध हो जाती है जब तक जैन मत का रथ आगे नहीं चलेगा तब तक के लिए अन्न, जल सब का त्याग है यह उसका धर्म के प्रति सम्यक समर्पण था।

सच्चे साधक वे ही होते, जो चमत्कारो से नित दूर है होते।
पर धर्म की शान की खातिर, कर्तव्यों से कभी पीछे न होते।।

महाराज कहते हैं कि हम साधु हैं चमत्कारों से दूर रहते हैं, सब पुण्य व भाग्य पर निर्भर है तुम तो मात्र भक्ति में लीन रहो, अवश्य ही सच्चे धर्म की ही विजय होगी। वे वज्रकुमार मुनि उत्कृष्ट तपस्वी थे अतः उनके पास अनेकों सहज सिद्धियाँ भी थी परंतु वीतरागी संत विरक्त होते है वे उनका प्रयोग नहीं करते परंतु उनके पुण्य के प्रभाव से वे सिद्धियाँ अपना चमत्कार स्वयमेव प्रकट कर देती है। यहाँ राजा की आज्ञानुसार बौद्ध का रथ आगे व जैनों का रथ पीछे खड़ा था। परंतु एकाएक बड़ा भारी अतिशय हो गया, जैन रथ जो कि भारी था वह उपर उठ गया तथा बौद्ध रथ से आगे जाकर खड़ा हो गया जिससे जैन धर्म का अतिशय देख सर्वत्र जैन धर्म की भारी प्रभावना हुई। बुद्धदासी व राजा भी इस अतिशय से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने उर्विला से क्षमा मांगी और वे दोनों भी जैन धर्मानुयायी बन गये।

बंधुओं ! साधुओं की त्याग तपस्या, साधना की महिमा अपरंपार है जिसके प्रसाद से ही धर्मप्रभावना सहज हो जाया करती है, दिगंबर संत नदी की तरह होते है जहाँ-जहाँ वे जाते हैं वहाँ धर्म रुपी हरियाली छा जाती है, धर्म की अपूर्व प्रभावना होती है और जहाँ संत नहीं होते वहाँ उजड़ा-उजड़ा, सूना-सूना लगता है। वहाँ से हरियाली कोसो दूर चली जाती है फिर सुख शांति कैसे मिल सकती है अतः साधु संतों का आगमन सुख व शांति का प्रतीक है कहा भी गया है-

गंगा पापं शशितापं दैन्यं कल्पतस्तथा।

पापं तापं च, दैन्यं च हन्ति संत समागमः ।।

अर्थात् साधु समागम पाप, ताप को हर कर, दीनता को भगाकर हमें सुख व शांति से भर देता है। अतः आज धर्म की ध्वजा को फहराने के लिए, धर्म रुपी गंगा को प्रवाहमान बनाए रखने के लिए प्रत्येक नगर, शहर, गाँव में साधु संतो का आगमन होना ही चाहिए क्योंकि साधु आत्मसाधना की मूर्ति होते हैं, जिनमें आत्म प्रभावना की सुरभि महकती है इसलिए धर्मप्रभावना करनी नहीं पड़ती उनकी परिचर्या, उपदेश ही प्रभावना का हेतु बन जाती है।

अतः बंधुओं ! आप भी एकता-संगठन, विधान, पूजा, गुरुओं की सेवा आदि के माध्यम से स्वयं को प्रभावित कर, धर्मप्रभावना करें ? और अपनी आत्मा का और पर का कल्याण करने में प्रबल हेतु बनें। तभी आप सच्चे शाश्वत सुख प्राप्त कर सकेंगे।

* * *

प.पू. गणाचार्य गुरुवर श्री विराग सागर जी महाराज द्वारा
लिखित, संपादित, संकलित, प्रवचन सबंधित सहित्य

प्राप्ति स्थान
श्री सम्यग्ज्ञान दिगंबर जैन विराग विद्यापीठ
बतासा बाजार, भिण्ड (म.प्र.)